नाटक, चित्रपट और समाज

सुश्री पद्मारानी एम. ए. (प्रिंसिपल)

जयपुर पुस्तक सदन
चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रकाशक :
राकेश प्रकाशन, गाजियाबाद (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण अक्तूबर, १९६६
मूल्य : ६.०० मात्र

मुद्रक :
राजकमल प्रिंटिंग प्रेस, तुर्कमान गेट, दिल्ली।

भूमिका

समाज की गतिशीलता में जहां मनुष्य की सहज पुरुपार्थ वृत्ति काम करती है, वहां उसकी ग्रानन्द वृत्ति का भी बड़ा हाथ होता है; बल्कि यूं कहना चाहिए कि आनन्दमय पुरुपार्थ ही समाज को प्राणवान और गतिवान बनाता है। यों तो अपने में हर अच्छा कर्म ही आनन्द पूरित होता है, लेकिन उस आनन्द की अभिवृद्धि के लिए कुछ विशेप कर्मों का आयोजन भी करना होता है। इन आयोजनों में साहित्य का अनुष्ठान महत्वपूर्ण है और साहित्य में भी दृश्य साहित्य का।

दृश्य साहित्य अपनी प्रदर्शनीयता के कारण बड़ा आकर्षक और सजीव हो उठता है और अल्पकाल में ही रूप और भाव का रस दे देता है। भाव यदि मनुष्यता के प्रति पुरुपार्थ को समर्पण को बढ़ाने वाला होता है तो उसका और भी अधिक महत्व हो जाता है। इस तरह दृश्य साहित्य मनोरंजन और प्रयोजन दोनों की सुखद समन्वित स्थिति उपस्थित करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी भावना से अनुप्रेरित होकर लिखा गया है और इस दृष्टि से अपनी जगह यह सफल भी है। श्रीमती पद्मारानी ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया है और साहित्य की इस श्रेष्ठ विद्या को प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से देखा है। लेखिका में अपने विषय की समग्रता को गहराई से समझने की बलवती लालसा है और उस लालसा में से ही उनके ज्ञान का प्रसून खिला है। लेखिका की साहित्य साधना को मैं पिछले कई वर्षों से बड़े निकट से देख रहा हूं और मैं समझता हूं कि वह बड़े साहस के साथ अपनी नियति द्वारा प्रदत्त अपने स्वभावज कर्म को बड़े परिश्रम से कर रही है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक पं. चिरंजीलाल पाराशर का अपने में एक विशेप व्यक्तित्व है। उनकी साहित्यिकता उनके ओजमय जीवन संघर्ष से विकसित हुई है और इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में उनका योगदान जहां विविध है, वहां अनूठा भी है।

श्री चिरंजीलाल पाराशर साधना के मूर्तिमान रूप हैं और उनकी साधना का यह परिणाम है कि उन्होंने साहित्य लेखन के साथ-साथ प्रकाशन के व्यवसाय को वर कर अपने सामाजिक व्यक्तित्व में अद्भुत प्रकाश भरा है। उन्होंने अपना जीवन प्रेस-उद्योग में एक कर्मचारी के रूप में प्रारम्भ किया और यहीं से उभर कर वे लेखक

श्रौर प्रकाशक की स्थिति में श्राये। पाराशरजी का मैं मुक्त हृदय श्रौर मुक्त कण्ठ से प्रशंसक हूं। उनका तप बड़ा प्रेरक श्रौर जीवन के प्रति श्रास्था का दान करने वाला है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि पाराशर जी दिन दूने श्रौर रात चौगुने फलें फूलें श्रौर साहित्य जगत को श्रपने विस्तार से विस्तृत करें।

मैं लेखिका श्रौर प्रकाशक दोनों के प्रति श्रपनी शुभ कामना व्यक्त करता हुश्रा यह श्राशा करता हूं कि पाठक वर्ग प्रस्तुत कृति को श्रपना स्नेह श्रौर प्रशंसा दोनों देगा।

हरिदत्त शर्मा
समाचार सम्पादक,
दैनिक नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली

विषय-सूची

अध्याय १

विषय-प्रवेश

"मनुष्य को सदैव क्रियाशील एवं कार्यरत रहना चाहिए", यह एक जीवन्त य है। समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए क्रियाशीलता अत्यन्त आवश्यक भी है। तना भी अधिक कार्य किया जाएगा, उतनी ही प्रगति भी होगी। आलस्य और ष्क्रियता से युक्त जीवन निरुद्देश्य एवं निष्प्रयोजन ही नहीं व्यर्थ भी है। देश के ए अलाभकारी है।

प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त सत्यों को जानता है और उनके पालन के लिए प्रयत्न-ील भी होता है, किन्तु क्या यह सभी दिशाओं में संभव है ? क्या ऐसा हो सकता है कि अनवरत रूप से कार्यों में लगे रहकर देश और जाति के साथ ही साथ स्वयं नपना प्रगतिपथ भी हम प्रशस्त कर सकें ? "आराम हराम है" का नारा लगाने वाले सभी व्यक्ति कहते हैं कि जीवन को विलासिता एवं वैभव के आश्रय में छोड़कर कोई भी मनुष्य उन्नति के सुरम्य सोपानों पर नहीं चढ़ सकता। उनकी बात सत्य है, परन्तु इस तथ्य को भी झुठलाया नहीं जा सकता कि जिस प्रकार मशीन को भी कुछ देर से लिए वन्द करके पुनः उस पर कार्य प्रारम्भ किया जाता है उसी प्रकार मानव-जीवन में भी "आराम" का अपना विशिष्ट महत्व है। श्रांति और अन्यमनस्कता से ओत-प्रोत तन और मन जब क्लांत हो जाएं तो कोई भी व्यक्ति क्षमतापूर्ण कार्य करने में असमर्थ होता है। इसके विपरीत कार्य करते-करते थक जाने पर यदि हम कुछ विश्राम अपने तन और मन को दे दें, आहार से उसमें संजीवनी घोलें, तो कुछ ही समय पश्चात अपनी पूर्ण क्षमतापूर्वक कार्य करने योग्य हो जाते हैं। स्फूर्ति एवं उत्साह से द्विगुणित कार्यशक्ति प्राप्त कर हम ऐसा अनुभव करते हैं मानों श्रांति का तनिक भी प्रभाव मन और मस्तिष्क पर पड़ा ही नहीं है।

प्रश्न यह उठता है कि थकान को दूर कर पुनः नव-स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए मात्र तन को विश्राम देना ही आवश्यक है अथवा मन को भी विश्राम मिलना चाहिए। कुछ लोग कह सकते हैं कि तन को जब विश्राम मिलेगा, तो मन स्वतः ही उसकी अनुभूति करेगा। किन्तु यह तर्क उचित नहीं है। इसके पूर्णतः विपरीत सत्य यह है कि जब तक हम कार्यलीन रहते हैं, मानसिक उथल-पुथल से मुक्तप्रायः होते हैं, जबकि विश्राम के क्षणों में नाना समस्याएँ और प्रश्न हमें उद्वेलित कर अत्यधिक आकुल बना

देते हैं। यही मशीन और शरीर में अन्तर है। मशीन को केवल कुछ देर वन्द रखकर और उसकी आवश्यक सफाई आदि करके उसे पुनः चालू किया जा सकता है जब कि तन की स्थिति इससे भिन्न है। तन के सुचारू संचालन के लिए यह परमावश्यक है कि मानसिक स्थिति सतुलित एवं उत्साहपूर्ण हो।

प्रेरणा और आस्था से ओत-प्रोत होने पर ही मन अपनी पूर्ण शक्ति का उपयोग करता है। यह सच्चाई अनेक प्रमाणों से सिद्ध की जा सकती है। युद्धभूमि हो अथवा सामान्य क्रीड़ांगण कई बार ऐसा होता है कि कुशल सैनिक एवं खिलाड़ी अपनी कला का उचित प्रदर्शन नहीं कर पाते। उनका मानसिक असंतुलन ही उसके मूल में कारण होता है।

किसी भी कार्य को करते समय यदि हमारे मन में उसके प्रति आस्था और संतुष्टि नहीं है तो हम अपनी कला की उत्कृष्ट अभिव्यंजना नहीं कर पाते। यदि किसी के घर बच्चे और पत्नी बीमार हों और वह उनकी चिकित्सा की कोई व्यवस्था वहन न कर सके तो ऐसी स्थिति में काम कर रहा हर व्यक्ति एक जीवित शव के समान होता है। उसका शरीर काम कर रहा होता है तथा मन अपनी विवशता के कारागार में वन्द मुक्ति के लिए छटपटाता रहता है। दूसरी ओर प्रत्येक प्रकार की चिन्ता से मुक्त एक अपूर्व उत्साह और प्रेरणा हृदय में लिए जब व्यक्ति कार्यलीन होते हैं तो यह भूल जाते है कि उस कार्य के अतिरिक्त भी उनका कोई और दायित्व है। परिणामतः कार्य को उत्कृष्टता एवं श्रेष्ठता मिलती है।

यहां यह समस्या उत्पन्न होती है कि मन को विश्राम, उत्साह और प्रेरणा कैसे प्राप्त हो। यह कहा जा सकता है कि जब अभाव और आशंकाएँ समाप्त हो जायं तभी ऐसा संभव है। बात ठीक भी है; किन्तु इसमें भी अधिक ठीक बात यह है कि सृष्टि के आदि से लेकर वर्तमान काल तक अभावों की जितनी पूर्ति की गयी, उनमें उतनी ही अधिक वृद्धि हुई है। कभी भी मानवीय समस्याएं और आवश्यकताएं समाप्त नहीं हुई हैं। और शायद आगे भी नहीं होगी। अतः ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि अपनी वर्तमान स्थिति से ही सन्तुष्ट होकर और अभावों में रहकर भी चिन्ताओं से मुक्ति हो, उत्साह और लगन से व्यक्ति कार्य कर सके, ऐसा कोई उपाय होना चाहिए।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक मानव ने मनोविनोद के अनेक उपाय अंगीकृत किये जिनसे उसे लाभ हुआ। अपने अभावों की दुनिया में रहकर भी वह उनसे मुक्ति पाने के लिए प्रेरित होता रहा है। हमारे पूर्वजों ने ऐसी व्यवस्थाओं को जन्म दिया है जो हमारे मन को हर स्थिति में प्रसन्न रखकर सदैव कार्यरत रहने के लिए प्रेरित करती हैं।

मनोविनोद के अनेक साधन हैं और पूर्व काल से वे चले आ रहे हैं और समयानुकूल परिवर्तनों के साथ-साथ चलते रहेंगे। आखेट, और खेल आदि के साथ ही साहित्य भी इस विषय में सर्वोत्तम साधन सिद्ध हुआ है। जैसा कि "साहित्य" शब्द के अर्थ से प्रकट है, उसका सृजन समाज के हित के लिए होता है। अपनी अनेक विधाओं के माध्यम से वह समाज का कल्याण और हित करता है। साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है, जो उचित ही है। सामाजिक प्राणियों के लिए उनके ही अस्तित्व की आधारशिलाओं पर उसका सर्जन होता है। पाश्चात्य और पौर्वात्य सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि समाज के मानसिक उत्थान में जितना योग साहित्य देता है उतना और कहीं से उसे प्राप्त नहीं होता। साहित्य का ही एक अंग नाटक है। अपने विभिन्न रूपों और आकारों में पौराणिक काल से ही अद्यतन वह समाज को जीवन-ज्योति से प्रदीप्त करता रहा है। समय-समय पर उसके अवयवों का विकास होता रहा और भविष्य में भी होगा; किन्तु यह एक ज्वलंत तथ्य है कि देश, जाति और व्यक्ति सभी की जो सेवा नाटकों ने की है, वह अवर्णनीय है। नाटक दृश्य एवं श्रव्य दोनों काव्यों के गुणों का ऐसा समन्वय है कि उससे दर्शकों के हृदय रस प्लावित हो आत्मस्थता को प्राप्त करते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे वे स्वयं भी एक नाटक के पात्र हैं जिन्हें हर कठिनाई और असफलता का सामना करते हुए अपने निर्दिष्ट की ओर अग्रसर होना है। राम के चरित्र का अभिनय जब होता है तो दर्शक स्वभावतः अपने कार्यो के प्रति जागरूक हो "सत्य-प्रेम" की भावना से भर उठते हैं। स्त्रियों के मन में सीता के समान धैर्यवान एवं पतिव्रता बनने की भावना बलवती हो उठती है और पुरुष त्याग, वलिदान, कर्तव्य और शूरवीरता के भाव ग्रहण कर आनन्दित होते हैं। उनके मन की समस्त चिंताएं एक बारगी दूर हो जाती हैं तथा शांत, निर्भय और अडिग व्यक्तित्व के ऐसे भाव उनमें जागृत होते हैं जो किसी भी राष्ट्र को उत्थान के परम शिखरों पर ले जाने में सक्षम हों।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटक मात्र मनोरंजन के साधन ही नहीं, प्रेरणा के अनन्त स्रोत भी हैं। वे ऐसे निर्झर हैं जिनकी लहरियों में उत्ताप, शीतलता और आवेग, सभी कुछ निहित हैं, जिनके सेवन से मानस् कमल विकसित-आल्हादित हो सुषमा एवं सौरभ का अविरत प्रसारण करने लगता है। हमारी इस पुस्तक का विषय नाटकों के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्रदान करना ही है। अतः अब हम क्रमशः उसकी उत्पत्ति, परिभाषा आदि पर विचार करेंगे।

अध्याय २

नाट्य पृष्ठभूमि

नाटकों की उत्पत्ति

भारतीय वङ्गमय में नाटकों की उत्पत्ति पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो प्राचीन काल के इतिहास तक हमें जाना पड़ता है; क्योंकि नाटक शास्त्र पर सर्वाधिक आधिकारिक मत एवं विचार 'भरत मुनि' के माने जाते हैं, वही नाट्य शास्त्र के आदि जनक भी है। उन्होने नाटकों की उत्पत्ति को दैवी दन माना है। वे लिखते हैं : "नाट्य-कला की उत्पत्ति दैवी देन है। दुख रहित सतयुग के अवसान एवं त्रेता-युग के आरम्भ होने पर देवताओं ने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से मनोरंजन के किसी ऐसे साधन को उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देव समुदाय अपना दुख विस्मृत कर सके और आनन्द प्राप्त कर सके। फलतः उन्होने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस लेकर नाटक का निर्माण किया।

भरतमुनि के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हैं कि नाटक में, कथोपकथन, अभिनय, रस एवं गायन—इन चारों तत्वों का होना अनिवार्य है। किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार नाटकों की उत्पत्ति "मोमल" नामक यूनानी उत्सव से हुई तथा भारतीय नाटकों की उत्पत्ति 'इन्द्रध्वज' नामक महोत्सव से प्रारम्भ हुई। इसकी पुष्टि के लिए वे भरतमुनि के नाट्य शास्त्र का निम्न उद्धरण भी प्रस्तुत करते है :—

"अहम् ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्य संघ प्रद्ययुज्यताम्।"

जहां तक 'इन्द्रध्वज' नामक इस उत्सव का सम्बन्ध है, नेपाली जनता आज भी इसे सोत्साह मनाती है; किन्तु मात्र उछलकूद और अंग-प्रदर्शन को नाटक नहीं कहा जा सकता, न ही उसकी उत्पत्ति के सूत्र उसमें से खोजे जा सकते हैं। नाटक के लिए आवश्यक है कि नृत्य, अभिनय एवं अनुकरण के साथ ही गायन तथा कथोपकथन भी प्रस्तुत किये जाएँ। इन्द्रध्वज उत्सव में एसा कोई संकेत नहीं। अतः उससे नाटक की उत्पत्ति मानना उपयुक्त तर्क नहीं है।

डा० रिजवे का विचार है कि नाटकों की उत्पत्ति—विशेषतः दुखान्त नाटकों की—यूनानी वीर पूजा से हुई। उन्होने रामलीला आदि का उदाहरण देकर इसकी

पुष्टि की है; किन्तु यह मत भी व्यावहारिक एवं मान्य नहीं है।

कुछ लोगों की धारणा है कि ऋतुपरिवर्तन के समय जो विभिन्न नृत्यादि के आयोजन प्रत्येक देश में होते हैं, उनसे ही नाटकों की उत्पत्ति हुई है। पतंजलि के महाभाष्य में 'कंस-वध' को वे इसके लिए प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि उसका आधार ऋतु परिवर्तन ही था।

जर्मन विद्वान पिशेल नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के नृत्य से मानते हैं। कठपुतलियों के नृत्य में जो सूत्र धारण करे वह 'सूत्रधार' तथा उनको उचित स्थानों पर रखने वाला 'स्थापक' माना गया। पिशेल कहता है कि ये शब्द तभी से प्रचलित हैं जब से कठपुतलियां नचायी जाती थीं।

इनके अतिरिक्त प्रसादजी का मत है—कठपुतलियों से नाटक प्रारम्भ होने की कल्पना का आधार 'सूत्रधार' शब्द है; किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का प्रयोग सूत्रधार एवं सूत्रात्मक जैसे शब्दों के लिए मानना चाहिए जिसमें कि अनेक वस्तुएं ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सबमें व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते है।

इस प्रकार प्रसादजी कठपुतलियों से भिन्न अर्थ 'सूत्र' शब्द का ग्रहण करते हैं और इस मत को अमान्य करते हैं।

डा० ल्यूडंसा के अनुसार नाटकों की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई। प्रमाण रूप में वे संस्कृत नाटक 'दूतांगद' को रखते हैं।

कुछ विद्वान यह भूल कर कि 'जवनिका' संस्कृत शब्द है (जिसका अर्थ है—ढंकने वाला) यह तर्क देते है कि हमारी नाट्य-कला यूनान की ऋणी है, क्योंकि यूनानी 'यवन', 'यवनी' से ही यवनिका शब्द बना।

वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय नाट्यकला किसी भी विदेशी कला से प्रभावित नहीं है। जिस समय हमारे देश में उत्कृष्टतम एवं महान साहित्यिक नाटकों का सृजन हो रहा था, विश्व के अन्य देश इस कला से परिचित तक नहीं थे। 'कालिदास' को श्रेष्ठ नाट्यकार मानने के उपरान्त विदेशी विद्वानों ने स्वयं अपरोक्ष रूप से यह तथ्य स्वीकार कर लिया है; क्योंकि उनकी प्राचीनता निर्विवाद है।

यह सत्य है कि हमारी नाट्यकला की उत्पत्ति के मूल वेद ही हैं। वेदों में अनेक स्थलों पर नाटकीय तत्वों का पाया जाना, इसका प्रमाण है। मैक्समूलर, हक्सले तथा लैवी जैसे विद्वान भी इस तथ्य को स्वीकर करते है। सच्चाई यही है कि रामायण, महाभारत, वेद, पुराण आदि से पर्याप्त सामग्री प्राप्त कर हमारी नाट्यकला विकसित और परिवर्द्धित-परिमार्जित हुई।

डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—'उस पुरातन काल की बात को जाने दीजिए जब यूनानी अभिनेता बैल व घोड़ा गाड़ी में बैठकर निकलते थे। अभी ३०० वर्ष पहले तक नकाबपोश पात्र रंगमंच पर आकर अपना भद्दा रूप दिखाया करते थे। पर्दे के चढ़ाने और उतारने का ढंग इतना भद्दा था कि अभिनय में स्वाभाविकता आ ही नहीं सकती थी।

इस बात को जानते हुए भी जो लोग यह कहते हैं कि भारतीय नाट्यकला विदेशों की थाती है, वे अल्पज्ञ नहीं तो क्या हैं ? हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि भरत, कालिदास आदि नाट्यकलाविद जिस देश में हुए हैं, उसकी नाट्यकला विदेशों की अणुकृति नहीं, अपने निजी विचारकों की देन है।

नाटक और उसकी परिभाषा

विषय को विशेष ग्राह्य एवं सर्वव्यापी बनाने के लिए अधिक उपयुक्त यह होगा कि पहले नाटक की परिभाषा, तत्संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों एवं उसके औचित्य पर दृष्टिपात कर लिया जाय।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में हम जिस 'नाटक' शब्द का प्रचलन देखते हैं वह अंग्रेजी के 'ड्रामा' शब्द से रूपान्तरित किया गया है। संस्कृत भाषा में 'ड्रामा' के लिए 'रूपक' शब्द ग्रहण किया जाता है। नाटक भी रूपक का ही एक भेद है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का रूप-आरोपण किया जाता है तो आरोपित वस्तु को रूपक कहा जाता है।

दूसरी ओर नाटक शब्द के मूल रूप पर विचार करें तो उसकी उत्पत्ति 'नट्' धातु से होती प्रतीत होती है, जिसका अर्थ सात्विक भावों का प्रदर्शन है।

दूसरे शब्दों में 'नाट्य' का सम्बन्ध नट से होता है। 'नट' की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति ही नाट्य है। नट (अभिनेता) से सम्बन्धित होने के कारण इसे हम नाटक कह सकते हैं।

भरतमुनि ने 'लोकावृत्तानुकरणम्' शब्द का प्रयोग किया है तथा दशरूपक में कहा गया है कि नाटक भावों की अनुकृति है—'भिवानुकृतिर्नाम नाट्यम।'

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नाटक अनुकृति मूलक है और अभिनय संवाद तथा रस का समन्वयात्मक प्रयोग है। अतः अभिनय, कथोपकथन एवं रस समन्वित साहित्य का वह अंग ही नाटक है जो अनुकरण द्वारा दर्शकों की कर्णेन्द्रियों को एक ही समय में 'आनन्द' प्रदान करता है।

नाट्य साहित्य के विषय में जब हम कुछ विचार करते हैं तो दो बातें हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से रहती हैं—

(१) नाटक दृश्य है।
(२) नाटक श्रव्य है।

यही समन्वय नाटक की विशेषता है। अपने कथोपकथनों द्वारा यह दर्शकों की श्रवणेन्द्रियों को रस प्लावित कर उन्हें आनन्द की अजस्र स्रोतास्विनी में गहरे बैठाता है तथा अभिनय एवं अनुकृति से उनके नेत्रों को रसासक्त करता है। किसी भी नाटक का अवलोकन करने आये समुदाय पर इन दोनों ही बातों का विशिष्ट प्रभाव पड़ता हैं। हमारी दो इन्द्रियां एक साथ जब रसानुभूति करती हैं तो यह परमावश्यक है कि उनमें समन्वय स्थापित हो। इसी उद्देश्य से नाटक में यह ध्यान रखा जाता है कि दर्शकों को केवल कथोपकथनों एवं ध्वनि की मधुरिमा से सम्मोहित करने का ही प्रयत्न न किया जाए अपितु उसमें अभिनय, रंगमंच संबंधी अन्य दृष्टव्य कला और निर्देशन आदि का भी संतुलित एवं समन्वयात्मक प्रस्तुतिकरण हो।

इसी उद्देश्य से नाटक सम्बन्धी तत्वों को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है :

(१) दृश्यकाव्य सम्बन्धी।
(२) अभिनय सम्बन्धी।

दृश्यकाव्य संबन्धी तीन तत्व ही प्रधान हैं :

(१) वस्तु।
(२) पात्र।
(३) रस।

वस्तु : इसके अन्तर्गत कथावस्तु आती है। कथावस्तु का तात्पर्य यही है कि नाटक का आधार क्या हो ? वह पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक कुछ भी हो सकता है। वस्तुतः अधिकांश प्राचीन नाटक पौराणिक आख्यानों को आधार मान कर ही लिखे गए। जनजीवन के सामान्य स्वरूप के दिग्दर्शन की ओर हमारे प्राचीन नाटककारों की दृष्टि नहीं जा पायी।

भास और कालिदास आदि के सब नाटक भी इसी प्रकार के कथानकों पर आधारित हैं। इसका कारण यह रहा कि प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित्रों को अनुकरण करने योग्य मानकर उनके ही चरित्रों का अभिनय किया जाए ताकि जनता में भी उनकी ही जैसी भावना आए और वह उनके गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करे। वैसे हमारे यहां नाट्यशास्त्र में वस्तु के तीन विभाग किये गये है :

(१) प्रख्यात।
(२) उत्पाद्य।

(३) मिश्रित।

प्रख्यात : इसमें केवल प्रख्यात और विश्व विश्रुत व्यक्ति को ही नाट्क का विषय बनाया जाता है। जीवन की जटिलता के दिग्दर्शन और अनावश्यक परेशानी से बचने के लिए लेखक इस प्रकार के प्रसंगों का चयन करता है।

उत्पाद्य : कल्पित कथावस्तु उत्पाद्य है। नाटककार को सत्यता के बन्धनों से मुक्त होकर कल्पना का स्वच्छन्द प्रयोग करने की स्वतन्त्रता इसमें होती है। किन्तु हमारे संस्कृत नाटककारों ने इस स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया। जिन्होंने किया, वे आधुनिक नाट्यकला की देन हैं।

मिश्रित : प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों प्रकार की कथावस्तुओं को मिलाकर जिसका निर्माण किया जाए, वह मिश्रित है। इस प्रकार के कथानक लेखक अपने नायकों के चरित्र को उज्ज्वलतम बनाने के लिए प्रयोग में लाते हैं। कालिदास ने दुर्वासा श्राप की कथा लेकर अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में इसका उपयोग किया। भवभूति ने सीता के मुख से स्वयं वन जाने की इच्छा व्यक्त कराकर राम को इस कलंक से बचाने का प्रयत्न किया कि उन्होंने क्यों उसे वनवासिनी बनाया जबकि वन-गमन के लिए पिता ने केवल उन्हें ही कहा था। हिन्दी नाटकों में प्रसादजी ने भी इस गुण का उपयोग किया है।

वास्तविकता यह है कि पूर्णतः प्रख्यात कथानक अपनाना सम्भव नहीं है। मानव चरित्र में गुण दोष होते हैं। अतः पूर्ण आपर्शव्य की स्थापना के लिए सत्य में कल्पना का योग करना ही पड़ता है।

भेद-विभेद

महत्व की दृष्टि से कथावस्तु को आधिकारिक और प्रासंगिक, दो भागों, में भी विभाजित किया गया है। आधिकारिक घटनाएं वे सब हैं जो नायक एवं अभीष्ट चरित्रों से सुसम्बद्ध हों। प्रासंगिक घटनाएं वे हैं जो उपरोक्त कथावस्तु के इर्दगिर्द घूमकर उसको प्रखरतर करें।

इन विभेदों के अतिरिक्त कथावस्तु के भेद, कार्य व्यापार की दृष्टि से भी किये जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) प्रारम्भ।
(२) प्रयत्न।
(३) प्राप्त्याशा।
(४) नियताप्ति।
(५) फलागम।

किसी भी कार्य व्यापार का मूल मानसिक विचारों में है । अतः उनकी मस्तिष्क में उत्पत्ति को ही आरम्भ मान लिया जाता है ।

फल की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला त्वरित यत्न ही प्रयत्न है । इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर यह है कि एक अवस्था क्रिया से सम्बन्ध रखती है तथा दूसरी मात्र विचार से ।

प्रयत्नों के उपरान्त जब यह आशा होने लगे कि फल प्राप्ति सम्भव है, तब तीसरी अवस्था आरम्भ होती है । जिस प्रकार दुश्यन्त को यह पता चलने पर कि शकुन्तला ब्राह्मण कन्या नहीं है—कण्व की पोष्य सुता है, आशा हो गयी थी कि वह उसे प्राप्त कर लेगा ।

सब उपायों के पूर्ण होने पर संघर्ष की स्थिति से मुक्त हो जब फल प्राप्ति की सम्भावना निश्चय में परिवर्तित हो जाती है तब नियताप्ति अवस्था होती है । यह अवस्था भी प्राप्त्याशा से बिल्कुल मिली-जुली है । संस्कृत नाटकों में तो लक्ष्यकर परस्पर अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है; किन्तु हिन्दी नाटकों में यह अन्तर जानना बड़ा ही कठिन है ।

हिन्दी-अंग्रेजी और संस्कृत नाटकों के भेद

फलागम का अर्थ है उद्देश्य अथवा फल की प्राप्ति । यह अवस्था मात्र सुखान्त नाटकों में ही सम्भव है । अंग्रेजी के दुखान्त (ट्रेजडी) नाटकों में यह सम्भव नहीं । उनमें तो कई बार नायक को फल प्राप्त ही नहीं होता; किन्तु भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न रहा है । कर्म के पूर्ण होने पर फल की प्राप्ति यहाँ की दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार अवश्यम्भावी है ।

हिन्दी नाटकों में भी इस नियम का पालन नहीं किया गया । अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपरोक्त पांचों अवस्थाएं प्रत्येक नाटक में हों, यह सर्वथा सम्भव नहीं । कई बार मात्र चार अवस्थाएं भी रह जाती हैं ।

नियताप्ति एवं प्राप्त्याशा की अवस्था भी कई बार एकाकार हो जाती है । ऐसी दशा में उसे चरम सीमा कहा जाएगा ।

संस्कृत नाटकों में प्रयोजन की सिद्धि के लिए पांच अर्थ-प्रवृतियां भी निर्धारित की गयी हैं । वे (प्रयोजन साधनोपया) कथावस्तु के हेतु मानी गयी हैं जो निम्न-लिखित हैं :

[अ] बीज ।
[आ] बिन्दु ।

[इ] पताका ।
[ई] प्रकरी ।
[उ] कार्य ।

किन्तु वर्तमान हिन्दी नाटकों में इनका ध्यान नहीं रखा जाता । अतः इनका वर्णन आवश्यक नहीं ।

कथावस्तु से सम्बन्ध रखने वाली एक और वस्तु है—'संधि'। एक निहित उद्देश्य के निमित्त कथाओं के अनन्तर प्रयोजन सम्बन्ध को 'संधि' कहते हैं। ये निम्न हैं :

[अ] मुख संधि ।
[आ] प्रतिमुख संधि ।
[इ] गर्भ संधि ।
[ई] निर्वहण संधि ।

आरम्भ नामक अवस्था के साथ बीज की उत्पत्ति को 'मुखसंधि' कहा जाएगा। यथा शकुन्तला दुश्यन्त का प्रणय मिलन ।

बीज जब अकुरित हो जाए तो 'प्रतिमुख संधि' होती है ।

जब पात्र अपने इच्छित फल को प्राप्त करने की आशा करे तो गर्भसंधि' होगी । जैसे दुष्यन्त शकुन्तला का गन्धर्व विवाह ।

अन्य सब संधियों में जो विशृंखलता रह जाए तो उसे दूर करने के लिए जब प्रयत्न किया जाए तो 'निर्वहण संधि' होती है, जैसे शकुन्तला के परिज्ञान की पीछे की कथा का सातवें अंक में दिया जाना, इसका उदाहरण है ।

कथावस्तु को भारतीय नाट्यकला के अनुसार 'अंकों' में भी विभाजित किया जाता है। प्रत्येक नाटक के कई अंक होते हैं। अंकों में कई बातों को लज्जाकारी एवं अवांछनीय मानकर उनका निषेध भी किया गया है। पूर्वकाल में उन निषेधों का पालन किया गया; किन्तु आधुनिक युग में नाटककारों ने मुक्तहस्तता को ही स्वीकार कर उन बन्धनों को ढीला कर दिया है।

अंकों के प्रकार

अंक कई प्रकार के होते हैं यथा :—

गर्भांक : जो अंक के बीच में प्रविष्ट हो और जिसमें बीज तथा फल का स्पष्ट आभास होता हो ।

अंकावतार : पूर्व अंक के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया, अगला अंक । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली में दूसरा एवं शकुन्तला का छठा अंक इसका उदाहरण है ।

अंकमुख : अंक के अन्त में प्रविष्ट किसी पात्र द्वारा विच्छिन्न अंक की आगे आने वाली कथा का सूचक।

विष्कम्भक : अंक आदि में रहकर यह भूत एवं भविष्यत् कथाओं की सूचना देता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि कथा को संक्षिप्त किया जा सके। रसोद्रेक में किसी भी प्रकार की बाधा न पड़ने देने के लिए निषिद्ध विषयों का वर्णन भी इसी में अभिनय करने वाले पात्र द्वारा कराया जाता है, जो कि निम्न अथवा मध्यम वर्ग से संबंध रखता है। **चन्द्रावली** नाटक का प्रथम अंक इसका उदाहरण है।

वर्तमान नाटकों में तो केवल अंकों एवं दृश्यों का विभाजन किया जाता है; किन्तु फिर भी कलात्मक पक्ष पर विचार करने से पूर्व इनकी जानकारी का यहाँ दिया जाना आवश्यक है।

नाटक और उसके पात्र

पात्र : नाटक का दूसरा तत्व, जो कि अधिक महत्वपूर्ण भी है, पात्र है। इसमें नायक, विरोधी, (खलनायक), सहायक पात्र आदि सभी आ जाते हैं। नाटक के पात्रों में नारी पात्र भी होते हैं।

संस्कृत की 'नी' धातु से उत्पन्न शब्द 'नायक' सर्वप्रधान पात्र के लिए प्रयुक्त होता है। 'नी' का अर्थ है ले जाना। नायक अपने अन्य सहायकों के सहयोग से लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है तथा उसकी प्राप्ति करता है। फलप्राप्ति का अनन्तानन्द उसी को प्राप्त होता है। नायक को फल प्राप्त करने का अधिकार होता है। अतः उसे 'अधिकारी' भी कहा जाता है।

गुणों तथा शक्तिसम्पन्नता आदि के आधार पर आगे चलकर नायकों को भी कई वर्गों में बाँटा जाता है, जो निम्नलिखित है—

(अ) धीरोदात्त।
(आ) धीरोद्धत।
(इ) धीर ललित।
(ई) धीर प्रशान्त।

प्रत्येक वर्ग के नायकों की भी चार श्रेणियां होती हैं :

(१) दक्षिण।
(२) धृष्ट।
(३) शठ।
(४) अनुकूल।

अब हम नायकों के विषय में विस्तृत रूप से विचार करेंगे।

धीरोदात्त : राम, युधिष्ठिर आदि गुणों वाले नायकों को इस वर्ग में लिया जाता है जिनमें कि क्षमाशीलता आदि के गुण प्रधान हैं, जो स्थिर प्रकृति होते हैं और अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करते। क्षण-प्रतिक्षण जिनके स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता है और उपरोक्त गुणों का जिनमें सदैव प्राबल्य रहता है।

धीरोद्धत्त : इस वर्ग में वे नायक आते हैं जो अपनी मायावी शक्तियों—शठता, प्रचण्ड शूरवीरता, त्वरितता एवं आत्म श्लाघा वृत्तियों के लिए विख्यात हों।

धीरललित : इस वर्ग में उन नायकों का समावेश होता है जो कोमल स्वभाव, नृत्यादि ललित कला में प्रवीणता एवं भाव-रसानुप्राणित व्यक्ति हों। 'वत्सराज' का उदयन इस वर्ग का श्रेष्ठ नायक है।

धीरप्रशांत : केवल साधुवृत्ति के नायक ही इस कोटि में आते हैं। 'मालती माधव' का माधव एवं शकराचाय ऐसे पात्र है।

दक्षिण : यह नायक वह है जो सबको समान रूप से प्रेम करता हो।

धृष्ट : इस नायक की विशेपता यह है कि वह अपराध करता है तो निःशंक रूप से और उस पर प्राप्त होने वाली प्रताड़णाओं से लज्जित नहीं होता। अजातशत्रु इसी प्रकार का नायक है।

शठ : यह नायक वह है जो ऊपर से तो सदा प्रेम प्रदर्शन करता हो; किन्तु भीतर ही भीतर अहित करे।

अनुकूल : इस नायक की विशेपता यह है कि वह एक ही नायिका के प्रेम में आसक्त रहता है।

अन्य पात्र : नाटक का दूसरा मुख्य पात्र होता है प्रतिनायक (खलनायक) जिसका कार्य-व्यापार सदैव नायक को व्याघात पहुंचाने से संबंधित होता है।

नाटक का एक प्रमुख पात्र है—विदूषक; वह नाटक को नीरस होने से बचाता है तथा समय-समय पर अपने सत्यप्ररामर्शों से नायक को लाभान्वित भी करता है। उसकी वेशभूषा में विचित्रता होते हुए भी यह आवश्यक है कि उसमें ब्राह्मणीय गुण भी हों।

सभी स्त्री पात्रों में प्रमुख नायिका होती है। उसके संबंध में शास्त्रों में विशद् चर्चा की गयी है। स्त्री पात्रों की श्रेणियां बांटनी नहीं पड़तीं। नायिका के विषय में प्रायः नाटककार बहुत सावधानी बरतते हैं। आज की सामाजिक आवश्यकताओं को देखते हुए तो स्त्री पात्रों को अत्यधिक मुखर किये जाने की आवश्यकता है।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पात्र भी नाटक में होते हैं। यह ध्यान अवश्य रखना

होता है कि कोई पात्र अनावश्यक एवं अप्रसंगिक न हो।

लेखक को अपनी अभिव्यंजना शक्ति द्वारा पात्रों, उनके आदर्श, इच्छाओं, लक्ष्यों एवं क्रियाकलापों को उभार कर इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि उसके पात्र प्रशंसनीय, प्रेरक एवं अनुकरणीय चरित्र प्रस्तुत कर सकें।

रस

अनेक विद्वानों ने 'रस' को काव्य की आत्मा माना है। क्षेमेन्द्र के अनुसार 'रस' काव्य की आत्मा और 'औचित्य' जीवन है। रस के साथ औचित्य के निर्वाह पर अवश्य सबने बल दिया है। कहा गया है कि जिस प्रकार रद-रस के सेवन से तन में स्थिरता आती है उसी प्रकार इससे काव्य को भी स्थिरता प्राप्त होती है।

'आनन्द प्रकाश' ने भी रस अथवा रसध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। इसके लिए आवश्यक तत्व औचित्य है। अतः उस पर ध्यान दिया जाना अवश्य अनिवार्य है। पर औचित्य दो प्रकार का होना चाहिए। वस्तु औचित्य (२) अलंकारौचित्य।

नाटक में समयानुकूल वीर, शान्त अथवा शृंगार चाहे कोई भी रस हो, उसका उचित परिपाक होना चाहिए ताकि दर्शक, श्रोता एवं पाठक उसमें निमग्न हो आत्मानन्द की प्राप्ति कर सकें।

अभिनय

नाटक वास्तविक पात्रों के रूप का आरोपण है। वास्तविक रूप में अवस्था का अनुकरण ही पात्र नाटक में करते हैं। वह अनुकरण जितना स्वाभाविक एवं वास्तविक होगा, उतना ही दर्शकों को अधिक प्रभावित भी करेगा। इसी स्वाभाविकता के दृष्टिकोण से अभिनय को तीन भागों में बाँटा गया है:

(१) आंगिक।
(२) वाणिक।
(३) आहार्य।

आंगिक : इसमें अंगों के हावभाव से ही अभिनय में कुशलता लायी जाती है। शरीर के प्रत्येक अवयव को ऐसी मुद्राओं में ढालकर पात्र अभिनय करते हैं कि दर्शक बिना एक वाक्य सुने, केवल अभिनय से ही इसके आरोपण को जान जाता है तथा उसमें आत्मलीन हो जाता है। नृत्य एवं वृत्त में इसका विशेष प्रयोग होता है। प्रलयकार शिव के ताण्डव का प्रदर्शन यदि करना हो तो, वह केवल आंगिक कुशलता से ही प्रभावपूर्ण हो सकता है। कथकली, भरत नाट्यम आदि नृत्य इस कला के प्रतीक हैं।

नायिकाओं के अलंकारों में आगज के अन्तर्गत 'हाव' और 'हेला' एवं 'कृति-साध्य' के अन्तर्गत 'लीला' विलास, 'विच्छिति,' विव्शेक' 'औद्यमित,' कुहपित, विक्षेप, 'कुतूहल', 'चिकत' एवं 'केलि' आदि सभी आंगिक अभिनय के अंग हैं।

वाणिक : वाणी के द्वारा भी अभिनय में कुशलता लायी जाती है। यही वाणिक अभिनय होता है। किस संवाद का उच्चारण किस प्रकार हो, यह बहुत महत्वपूर्ण है। स्थिति में वाणी का ऊंचा, किसमें नीचा और किसमें सामान्य स्वर हो यही प्रयत्न इसके अन्तर्गत होता है। पात्र की वाणी उसके चरित्रानुकूल होनी आवश्यक है। यह कई बार हो जाता है कि ऐसी स्त्री को सीता का अभिनय दे दिया जाए जिसके स्वरों में रुक्षता हो, जबकि सीता के मुख से निकला एक-एक शब्द मधुर, एवं सोमनस्य पूर्ण होना चाहिए। शकुन्तला की वाणी कर्कश हो तो दर्शक कैसे उसे सराहेगा ? लक्ष्मीबाई के स्वरों में यदि कठोरता व्यक्त न होती हो तो उसके चरित्र से कौन प्रभावित होगा ? शूर्पणखा को माधुर्य की प्रतिमूर्ति बना देना, कहां तक उचित होगा। और युद्ध के दिनों में नायक के शब्दों में धनुष की टंकार न होकर, श्रृंगार की गुंजना हो तो कैसे रुचिकर हो सकती है ?

आहार्य :

आभूषणों, वेशभूषा, वस्त्र आदि द्वारा किया जाने वाला अभिनय आहार्य होता है। यह भी अत्यावश्यक है कि वेशभूषा देश काल एवं पात्र की स्थिति के सर्वथा अनुकूल हो।

भरतमुनि के अनुसार—

"आदेश जाहि वेवस्तुन शोमांजनायन्ति
मेललोरसि वन्धे च हास्यावरे जायते।"

उनका स्पष्ट कथन यही है कि देशकाल के प्रतिकूल वेशभूषा धारण करना किसी स्थिति में भी शोभाप्रद नहीं हो सकता।

अंत में सब प्रकार ग्राह्म एवं अग्राह्य तत्वों के विषय में भरतमुनि ने लिखा—

"वदोनुरूपा प्रथमस्तु वेषो,
वेषानुरूपश्य गति प्रचार:
गति प्रचारानुगतं च पाठ्य,
पाठ्यानुरूपायमिनयश्च कार्य:

अभिनय के जिन अंगों की ऊपर विवेचना की गयी है, उनकी पूर्ति के निमित्त भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ में निम्नांकित कर्मकरों का वर्णन किया है।

(१) भरत : यह नाट्य संस्थान का संचालक तथा पदासीन प्रबन्धक होता है।

(२) सूत्रधार : यह नाटक के विभिन्न सूत्रों (तत्वों एवं साधनों) को एकत्रित कर उनका संचालन करता है। आजकल इसे निर्देशक अथवा डाइरेक्टर कहते हैं।

(३) नट : यह पूर्वाभ्यासों का प्रमुख अधिकारी पात्र होता है।

(४) तौरिक : इसे आजकल संगीत निर्देशक कहते हैं।

(५) वेषधर : वेशभूषादि के मामलों में यह प्रमुख होता है।

(६) मुहरकृत : शीश पर धारण की जाने वाली प्रत्येक वस्तु का प्रबन्ध करना इसी का उत्तरदायित्व है।

(७) आभरणकृत : नाटक के लिए आवश्यक एवं समयोचित मामलों की व्यवस्था इसे ही करनी होती है।

(८) माल्यकृत : मालाएं आदि बनाने वाला।

(९) चित्रक : पर्दे आदि के चित्र तैयार करने वाला।

(१०) रजक : यह धोबी और रंगरेज का कार्य करता है।

उपरोक्त सब पात्रों के कार्यों में सामंजस्य एवं उनमें परस्पर संतुलन रखना भी आवश्यक होता है।

अब हम नाटक की परिभाषा आदि पर विचार कर चुके हैं। नाटक तत्वों पर विचार अभी तक भारतीय (प्राचीन) दृष्टिकोण के अनुसार किया गया है। आधुनिक नाटक के तत्व पर पाश्चात्य विद्वानों के प्रभाव की विवेचना हम अगले अध्याय में कर रहे है।

अध्याय ३

नाट्य-साहित्य पर प्रमुख विद्वानों के मत

पाश्चात्य मत

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के छः तत्व माने हैं।

वस्तु : दृश्य काव्य का कथानक वस्तु कहलाता है।

पात्र : (चरित्र चित्रण) पात्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। नाटकों में पात्रों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए।

कथोपकथन : नाटक में इसका विशेष महत्व है। संवादों के द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। पात्रों का वार्तालाप कथोपकथन कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है।

(१) **नियत श्राव्य** : ऐसे संवाद जो पात्रों से छिपाकर कहे जाते हैं।

(२) **सर्व श्राव्य** : जो बात इस प्रकार कही जाए मानो उसे कोई सुन रहा हो।

(३) **स्वगत श्राव्य** : जो बात इस प्रकार कही जाए कि उसे सब सुन सकें।

देश काल : नाटक में देशकाल का अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक बात के लिए नाटकीय वातावरण का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। कथावस्तु जिस देश काल से सम्बन्ध रखती है, उसी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि करनी चाहिए। इसमें दो बातें आती हैं।

१—नाटक में यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस देश और जिस समय से वस्तु सम्बन्धित हो, उसी के अनुरूप वातावरण उपस्थित हो। ऐसा न होने पर अस्वाभाविक वातावरण लगेगा।

२—नाटक में घटनाएं इस प्रकार घटनी चाहिएं कि वे स्वाभाविक लगें। वे कम क्षेत्र में तथा कम समय में हो सकें। नाटक में जो बात जिस समय घटित हो रही हो, वैसा ही वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए। इसको संकलन त्रय भी कहते हैं। संकलन त्रय अर्थात—

१—वस्तु सकलन

२—काल संकलन

३—स्थल संकलन

शैली : नाटक को उपस्थित करने के ढंग को शैली कहते हैं । इसे नाटक का परिधान भी कहते हैं । इसमें पात्रों की भाषा, रंगमंच की व्यवस्था, नाटककार का व्यक्तित्व आदि बातें आती हैं ।

उद्देश्य : नाटक की उत्पत्ति मनोरंजनार्थ की गयी है । ऐसा विद्वानों का मत था । नाटक को पढ़कर यह अनुमान लगाया जाता है कि किस देश का नैतिक स्तर कैसा है ? आचार्यों का कथन है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि ही नाटक का उद्देश्य है । नाटक का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन करना है । भरतमुनि ने भी इस बात पर बल दिया था, किन्तु मनोरंजन से ज्ञान प्राप्ति भी हो तो ठीक है ।

नाटक में दृश्य विधान—नाटक की सफलता दृश्य विधान पर आधारित है । इसकी अनेक विशेषताएं हैं । सभी प्रकार से देखने पर यह स्पष्ट है कि दृश्य विधान में देश काल और वातावरण निहित है ।

नाटक का अन्त—इसका अन्त कई प्रकार से किया जाता है । संयोगान्त, वियोगान्त, सुखान्त, दुखान्त, प्रसादान्त तथा विस्मयकारी । अनेक प्रकार से नाटक के अन्त होते हैं ।

कुछ विशेष बातें

नाटक में अनेक बातें ऐसी हैं जो विशेष रूप में मननीय हैं, नीचे उनका वर्णन प्रस्तुत है :

देशकाल तथा वातावरण—उपन्यास की तरह नाटकों में भी देश, काल तथा वातावरण का विचार रखा जाता है । पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता तथा वास्तविकता लाने के लिए पात्रों की चारों ओर की परिस्थितियों, वातावरण तथा देशकालीन विधान के वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है । प्रत्येक युग की, प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति और सभ्यता होती है । उसके अपने रीति-रिवाज, रहन-सहन का ढंग होता है ।

पात्र : नाटक में पात्रों की प्रमुखता होती है । नाटक के सभी तत्व पात्रों के आश्रित रहते हैं । उसके लिए विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य करने में कुशल प्रिय बोलने वाला, कलाकार, स्वाभिमानी और तेजस्वी होना जरूरी है ।

नायिकाओं के भेद : (१) दिव्या, (२) नृपति नीर, (३) कुल स्त्री, (४) गणिका ।

नवीन दृष्टिकोण : (१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) सामान्या ।

(१) स्वकीया—अपनी पत्नी होना ।

(२) परकीया—दूसरे की पत्नी या अविवाहिता ।

(३) सामान्या—किसी की पत्नी नहीं होती, उसे गणिका या वेश्या भी कहते हैं।

चरित्र-चित्रण : चरित्र-चित्रण निम्न प्रकार से किया जाता है :

१—कथोपकथन द्वारा : जब पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं तो हम उनकी बातचीत के ढंग से चरित्र का पता लगा सकते हैं । चरित्र-चित्रण का सर्व सुन्दर उपाय यही है।

२—कार्यकलाप : मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन का एक प्रमुख साधन है ; क्योंकि हम मनुष्य की नीचता, उच्चता का अनुमान उसके कार्यों द्वारा ही कर सकते हैं । चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता पर ही नाटक की सफलता निर्भर है ।

३—स्वगत कथन : एकांत में मनुष्य कुछ सोचता है और उन विचारों को प्रकट करता है तो वह अपनी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट कर देता है। आन्तरिक संघर्ष का चित्रण भी स्वगत कथन द्वारा हो सकता है।

रस :

भारतीय परम्परा के अनुसार नाटकों में रस को मुख्यता दी गयी है । रस उन तीन बातों में से एक है जो रूपकों के विभाजन का आधार बनती हैं। नाटक में कोई न कोई रस अंगी रूप में रहता है । जैसे शकुन्तला नाटक में शृंगार रस प्रमुख है ।

उद्देश्य :

पाश्चात्य देशों के नाटकों में कुछ न कुछ उद्देश्य अव्यक्त रूप से रहता है । वह किसी प्रकार की जीवन-मीमांसा या विचार सामग्री के रूप में आया है । इस उद्देश्य का सम्बन्ध आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से होता है । नाटककार जो कुछ कहना चाहता है वह अपने पात्रों से कहलाता है । मानव सहानुभूति का विस्तार तो प्रायः सभी देशों और देशी विदेशी नाटकों का व्यापक उद्देश्य रहता है।

अभिनय :

नाटक अभिनय की वस्तु है। कथा और आख्यान आदि केवल पढ़े लिखे लोग पढ़कर आनन्द ले सकते हैं । किन्तु नाटक में अभिनय होने से सब लोग आनन्द ले सकते हैं। अभिनय से नाटक को संजीव किया जाता है।

अभिनय द्वारा भी चरित्र की विशेषता का उद्घाटन हो सकता है ; परन्तु यह गौण उपक्रम है। अभिनय से नाटक का उदय हुआ है।

नाट्यशास्त्र की शैलियां : (१) कौशिकी, (२) आरंभटी, (३) सात्विकी (४) भारती वृत्ति।

संकलन त्रय

स्थल की एकता : प्राचीन नाटकों में स्थल, काल और कार्य की एकता की ओर अधिक ध्यान रखा जाता है।

समय की एकता : जो घटना नाटक में दिखाई जाए वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता है। उसे समय की एकता कहते हैं।

कार्य को एकता : कथावस्तु एक रस होनी चाहिए। इसको निभाने के लिए कथाओं को स्थान नहीं मिल पाता था। इस नियम को कार्य की एकता कहते थे। आधुनिक नाटकों में जो संकलन त्रय की प्रवृत्ति लक्षित हो रही है वह घटनाक्रम का विकसित रूप है जो कि समय, स्थान तथा कार्य के वैविध्य को लिए हुए भारतीय आदर्श के अनुरूप ऐक्य रक्षित किये हुए है।

अध्याय ४

नाटक के भेद

संस्कृत नाट्य-साहित्य का अध्ययन करने पर हमें रूपकों के अनेक भेद मिलतेहैं; किन्तु हिन्दी में उन सबका प्रवेश नहीं है। प्राचीन परम्परा के जो नाटक सुलभ हैं उनके अधोलिखित रूप हैं—

(१) नाटक।
(२) भाण।
(३) व्यायोग।
(४) प्रहसन और,
(५) नाटिका।

नाटक—प्रथम वे नाटक है जिनमें प्रत्येक प्रकार के काव्य गुण प्राप्य हों। 'सत्य हरिश्चन्द्र' इत्यादि नाटक इसी श्रेणी में आते हैं।

भाण—इसमें केवल एक अंक होता है और पात्र आकाश की ओर देखते हुए अपने आप ही सभी कहानी सुना जाते हैं। इनमें जो पात्र होता है वह सब प्रकार के अभिनय स्वयं ही करके दर्शकों का मनोविनोद करता है।

'विपस्य विपमौपधम' इसका उदाहरण है। अंग्रेजी और वर्तमान प्रचलित भापा में इसे 'मोनो ड्रामा' कहा जाता है।

व्यायोग—यह युद्ध प्रसंग पर लिखी गयी एक ही दिन की कथा पर आधारित होता है। इसका नायक कोई देवावतार अथवा वीर पुरुष होता है। स्त्री-पात्र इसमें नहीं होते। 'धनंजय विजय' इसका उदाहरण है।

प्रहसन—इसकी विशेपता यह है कि हास्य की प्रधानता होती है। पात्र इसमें प्राय: एक ही होता है। दृश्यों पर कोई प्रतिबंध नहीं होता। उनकी संख्या अधिक भी होनी सम्भव है। 'अँधेर नगरी' इसका उदाहरण है।

नाटिका—यह नाटक चार अंकों का होता है। इसकी नायिका कनिष्ठा होती है तथा इसमें विशेपता यह होती है कि वह नायक की पूर्व प्रेमिका के वश में रहती है। भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली' इस विषय में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।

नाटक के उपर्युक्त भेद प्राचीन काल के हैं । वर्तमान हिन्दी नाटकों में उक्त सब भेद प्राप्त नहीं हैं। वर्तमान काल में जो नाटक प्रकाशित हुए हैं, एवं जिनके लेखन-प्रकाशन में रुचिपूर्वक कार्य किया गया है, वह नाटक तीन प्रकार के हैं—

(१) नाटक।
(२) एकांकी।
(३) प्रहसन।

नाटक—यह नाटक किसी भी स्वतंत्र विषय पर लिखा जाता है और इसके गुण एवं तत्व उपरिलिखित नाटक के समान ही होते हैं।

एकांकी—यह नाटक जीवन के मात्र एक पहलू का ही दिग्दर्शन कराता है। इसके निम्नलिखित तत्व स्वीकार किये गये हैं—

(अ) विषय की एकता।
(आ) प्रभाव ऐक्य।
(इ) वातावरण ऐक्य।
(ई) ऊपर लिखे गये सभी अवयवों का केन्द्रीकरण व्यक्ति अथवा समुदाय के रूप में ही पात्र पर हो।

प्रहसन—इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। किसी भी विषय के आधार पर इसकी रचना हो सकती है तथा हास्य के रूप में वेश, आकृति, वाणी, नाम, तथा स्थान आदि प्रत्येक चीज हो सकती है। वैसे उच्चकोटि के हास्य के लिए उत्तम यह होता है कि स्थितिहास का प्रदर्शन किया जाये। पात्र की स्थिति ही ऐसी हो कि उसे देखकर बरबस ही होंठों में हास्य फूट पड़े। हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि इसमें अधिकांशतः प्रहसन नहीं मिलते। केवल कुछ एक हैं। उनमें भी अधिकांश अनुवाद हैं। 'अंधेर नगरी' एक अच्छा प्रहसन है।

उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त कुछ और भेद भी नाटक के है; किन्तु कुछ लोग उन्हें नाटक के अन्तर्गत नहीं गिनते। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। गुण-धर्म के अनुसार वे भी नाटक के भेदों में ही आते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) सिनेमा।
(२) फीचर।

सिनेमा—(चित्रपट)—इन नाटकों का प्रकाशन नहीं किया जाता। कहानियां आदि लिखी जाती हैं; किन्तु वे चित्र-रूप में परिवर्तित की जाती है और तब ही जनता के सम्मुख आती हैं। लेखक का नाम भी नहीं होता है। उसे छविगृहों में ही

देखा सुना जा सकता है। यूँ अनेक सिने पत्रिकाएँ उनका प्रकाशन करती रहती है; किन्तु उन्हें 'पुस्तक' नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान युग में सिनेमा आमोद-प्रमोद के साधनों में प्रमुखता प्राप्त कर चुका है। दर्शकों की प्रवृत्ति निरंतर सिनेमा की ओर बढ़ रही हैं; किन्तु सिने-जगत् में जो त्रुटियां व्याप्त हैं, उनको देखते हुए अभी इसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है, जितना होना चाहिए था।

हम एक अध्याय में सिनेमा के विषय में संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

फीचर—ये वे नाटक है जिनको रेडियो अर्थात् आकाशवाणी द्वारा प्रसारित किया जाता है। रेडियो विभाग के पास किसी भी चीज के प्रसारण के लिए एक निश्चित समय होता है। अतः उसकी सीमाएँ भी निश्चित हैं। उनको देखते हुए ही लेखक को उनके अनुसार लिखना होता है। यूं आकाशवाणी समय-समय पर इनका प्रसारण करती रहती है; किन्तु अभी इनमें प्रौढ़ता एवं परिपक्वता नहीं आ पाई है।

नाट्य वर्जनाएँ

जो दृश्य रंगमंच पर नहीं दिखाये जाते, उन्हें आधुनिक शब्दावली में 'वर्जनाएं' कहते हैं। इनके निषेध के मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं ऐतिहासिक आधार हैं। ये प्रगल्भ प्रलाप मात्र नहीं है। इनकी सूची नीचे प्रस्तुत की गयी है :

१—वध, मृत्यु आदि दुःखद प्रसंग जो प्रेक्षक के हृदय में त्राण एवं करुणा का संचार करते हैं।

२—ऐसे अश्लील दृश्य जिनमें शृंगारिकता का मुक्त चित्रण हो और समाज के आचार एवं विचारों को दोषों से अभिमंडित करते हों।

३—अमांगलिक—अश्लील दृश्य।

४—अरोचक और इतिवृत्तात्मक प्रसंग जो नाटक में नीरसता के द्योतक हैं।

५—अनेक ऐसे दृश्य जो रंगमंच की असमर्थता के कारण निषिद्ध हों। जैसे, राज-विप्लव, युद्ध और विवाह आदि।

नाट्य वर्जनाओं का औचित्य—इन वर्जनाओं की परिकल्पना रूढ़िमात्र नहीं, वरन् मूलतः रस को सुरक्षित रखने के लिए की गयी है।

प्रश्न उठ सकता है कि भयानक, वीभत्स, करूणा, सम्भोग शृंगार आदि रस के दृश्य केवल नाटकों के लिए ही क्यों वर्जित माने गये हैं? इसका उत्तर यह है कि

दृश्य काव्य का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है । इनसे प्रेक्षकों की भी भ्रांति का उन्नयन होता है। जैसे वध से उसका भयभीत होना, जबकि उसे यह लगता है कि यह सत्य है।

नाटक एक सामाजिक आयोजन है। काव्य एकान्तिक वर्णन है। अतः सामाजिक शिष्टाचार का ध्यान रखना नाटक में अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हो सकता है कि क्या ये शृंगारिक दृश्य शाश्वत सत्य नहीं हैं ? वास्तव में इस तरह के दृश्य सार्वजनिक रूप में आज भी वर्जित हैं। इनसे चारित्रिक हीनता का समाज में प्रसार होता है। अतः अन्त में निष्कर्ष यही निकला कि भारतीय आदर्श, दर्शन एवं संस्कृति के आधार पर इनकी कल्पना की गयी, जो निराधार नहीं है। यही कारण है कि कला-चित्रों में भी अधिक शृंगारिकता को हटाने के लिए ही सरकारी 'सेन्सर बोर्ड' बैठाया गया है।

अध्याय ५

नाटकों के अंग

नाट्य साहित्य के अंग हैं—१. साहित्यक, २. रंगमंचीय। साहित्यिक नाटक की निम्न तीन धाराएं हैं :—

१—नाटकीय काव्य।

२—अनुवादित।

३—मौलिक।

नाटकीय काव्य : नाट्य साहित्य का आरम्भ नाटकीय काव्य से हुआ है। 'हनुमन्ना' तथा 'समय सार' आदि नाटक इसी कोटि के हैं।

अनुवादित नाटक : प्रारम्भिक काल में नाटकों पर अनुवादों की प्रधानता लक्षित है। सन् १८४३ ई० के लगभग जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह ने संस्कृत भाषा के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद ब्रजभाषा में किया था।

मौलिक नाटक : हिन्दी साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है। सन् १७०० ई० में रीवां के महाराजा विश्वनाथसिंह जी ने ब्रजभाषा में सर्व-प्रथम यह मौलिक नाटक लिखा था। उनका 'गीता रघुनन्दन' नाम का एक दूसरा भी मौलिक नाटक भी है।

इन दोनों की ही परम्पराओं में आगे चल कर राजा लक्ष्मणसिंह कृत अनुवादित 'शकुन्तला' और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत 'नहुष' नाटक लिखे गये।

रंगमचीय नाटक साहित्य : रंगमंचीय नाटकों में 'जानकी मंगल' को हिन्दी भाषा में खेला जाने वाला सर्वप्रथम नाटक भारतेन्दु ने माना है। इसका अभिनय काल सन् १८६२ ई० है।

सबसे प्राचीन रंगमंचीय नाटक 'इन्द्रसभा' है जो 'अमानत' ने लिखा था। पं० मदारीलाल ने एक और दूसरा नाटक इसी 'इन्द्रसभा' नाम से लिखा जो नाटक-कला की दृष्टि से 'अमानत' की इन्द्रसभा से अधिक उत्कृष्ट है।

इस प्रकार रंगमंचीय नाटकों का आरम्भ गीति नाटक से हुआ है। यहां एक प्रश्न उपस्थित यह हो सकता है कि साहित्यिक नाटकों के लिए कोई रंगमंच की

परम्परा थी या नहीं ? इसका उत्तर देना अभी सम्भव नही है, क्योंकि अधिक शोध होने पर ही यह संभव है।

हिन्दी नाटकों के अभाव के कारण—नाटक साहित्य के लिए यदि आवश्यक उपकरणों पर ध्यान देते हैं तो उसके दो तत्व हैं—

१—जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण।

२—इस दृष्टिकोण का व्यक्तित्व सहित अभिव्यंजन।

जीवन सतत क्रियाशील और गतिमय होता है। वह अपने को दर्शकों या पाठकों के सामने नाटककार के माध्यम से कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। इसमें व्यक्तित्व की प्रधानता होती है।

कवि भाव को अनुभव करता है और स्वयं उसमें ही मग्न होता है। अतः अपने व्यक्तित्व की अभि-योजना के लिए ही वह लिखता है। नये युग में जिस प्रकार की विचारधारा प्रकट हुई उसी से नाटक का जन्म हुआ। परन्तु हमारा आलोच्यकाल इनसे प्रतिकूल था। अतः नाटकों के अभाव के प्रमुख निम्नलिखित कारण हैं—

१—शताब्दियों की दासता।

२—धार्मिकता की तीव्र लहर।

३—नियतिवादिता।

४—दार्शनिक सिद्धांतों की प्रचुरता।

५—संसार की असारता, मोक्ष की चिन्ता और आत्म-समर्पण की भावना।

६—गद्य का अभाव।

७—हिन्दी में नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थों का अभाव।

८—नाट्यकला से अनभिज्ञ होना।

उपर्युक्त कारणों से हिन्दी नाटक का विकास उस युग में न हो सका जो स्वाभाविक था।

कुछ परामर्श

नाट्य साहित्य के विषय में पर्याप्त लिखने के पश्चात् अब संक्षेप में यह व्यक्त कर देना भी समीचीन होगा कि हमारे देश में इस दिशा में किस प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता है। यह विषय बहुत विस्तृत हो सकता है, किन्तु यहां संक्षेप में ही इस पर विचार किया जाएगा। लेखक की दृष्टि में निम्न आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है :

(१) हमारे देश में रंगमंच का बहुत, प्रभाव था। मुस्लिम काल में रंगमच को प्रोत्साहन न मिलने का कारण यह रहा कि तत्कालीन शासक लोग इस बात के विरुद्ध

थे कि हमारी प्राचीन संस्कृति एवं उसके गौरव का सार्वजनिक प्रदर्शन हो। अंग्रेजों के समय में इस दिशा में कुछ सुधार हुआ था; किन्तु वर्तमान युग में सिनेमा के आविष्कार के कारण यह पुनः रुक सा गया है। अन्य देशों में भी सिनेमा का प्रचलन है। किन्तु वहां रंगमंच की ओर भी लगातार ध्यान दिया जाता है। हमारे देश में ही इस ओर जागरूकता नहीं वरती जा रही है। मैं पहले भी निवेदन कर चुका हूं कि इस दिशा में हमें सार्वजनिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। ऐसा न करने पर देश का अहित ही होगा। क्या ही अच्छा हो कि अन्य प्रकार की शिक्षाओं के साथ ही नाट्य शास्त्र एवं रंगमंच विषयक विश्वविद्यालयों की स्थापना हो तथा इस विद्या के प्रसार में भी सरकार योग दे।

२. नाट्य साहित्य के लिए यह परमावश्यक है कि वह देश के सांस्कृतिक स्वरूप एवं व्यक्तित्व की भली भांति अभिव्यक्ति करे। अपने ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चरित्र की अभिव्यक्ति करना नाटककारों का कर्तव्य है। हम आज प्रत्येक विषम समस्या को सुलझाने के लिए पाश्चात्य दृष्टिकोण अपनाने लगें हैं, जो प्रत्येक विषय में उचित नहीं है। अपनी समस्याएं अपने ही ढंग से हमें हल करनी हैं। अतः यह आवश्यक है कि हमारे नाट्य शास्त्र में भी उन समस्याओं की पूर्ण अभिव्यक्ति हो। ऐसा न करके आज हम अपने उत्तरदायित्व को निबाह नहीं रहे हैं। जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, गांव की समस्याओं पर हम आज शहरी दृष्टिकोण से विचार कर रह हैं, जवकि सचाई यही है कि ग्राम्य समस्याएँ तभी सुलझेंगी जबकि उनके यथार्थ मूल को समझ कर उसका निराकरण किया जायेगा।

(३) आज के नाटकों की प्रवृत्ति मात्र संवादों एवं दृश्यों के ऊपर ही बल देने की ओर है। संगीत की उनमें उपेक्षा हो रही है। जो गीत गाये जाते भी हैं वे नाटक के स्तर के अनुसार न होकर जनभावना को उद्वेलित करने वाले सस्ते होते हैं। न उनमें संगीत शास्त्र का कोई पुट होता है न कवित्व का। परिणामस्वरूप संगीत की स्थिति दिन प्रतिदिन विगड़ती जा रही है तथा वैजू बावरा और तानसेन की धरती पर संगीत के नाम पर हल्के तथा फूहड़ अश्लील गीत ही हर जगह सुनने को मिलते हैं। देश की नयी पौध आज—लारा लप्पा एडी टप्पा और या हूं हूं की आवाजें लगाती गाती घूमती है। प्रेम के भद्दे गीत मां-बहनों के सामने गाते आज किसी को कुछ अव्यावहारिकता अनुभव नहीं होती। क्यों ? मैं भी मानता हूं कि संगीत एक कला है और कला का अभ्यास करने के लिए लाज संकोच को बाधक नहीं बनना चाहिए; किन्तु यह कैसा अभ्यास है कि स्नानागार, रसोईघर, वैठक, गली, पार्क और हर जगह एक ही आवाज सुनाई पड़ती है :

'तुमने किसी की जान को जाते हुए देखा है,
वह देखो, मुझसे रुठ कर मेरी जान जा रही है।'

अच्छा होगा कि हमारे उच्चकोटि के लेखक स्वयं उत्तम गीत अपने नाटकों तथा पटकथाओं के लिए लिखें ताकि उनके कथानक को उन अश्लील गीतों से दूषित एवं विकृत किया जा सके।

(४) सबसे बड़ी कमजोरी हमारे नाट्य साहित्य की आज यह भी बन गयी है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में 'अति' को महत्त्व देता है। यदि दुश्चरित्र व्यक्ति को चित्रित करना हो तो इतना बुरा दिखाया जाएगा कि यथार्थ से भी दो सीढ़ी आगे बढ़ेंगे। इसी प्रकार चरित्रवान को दिखाने के लिए जबरदस्ती कल्पित आदर्शों की छाप लगाई जाती है। यह दोनों ही बातें अनुचित हैं। ठीक यही होगा कि हम स्वाभाविकता को ही ग्रहण कर नाट्य साहित्य में भी उसे ही स्थान दें।

(५) नाट्य साहित्य में भाषा सम्बन्धी कुछ तत्वों पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। यदि स्वाभाविकता दर्शानी है तो यह करना ही होगा कि जो अपढ़ और ग्राम्य पात्र हैं उनकी भाषा भी वैसी ही हो। हर पात्र शुद्ध हिन्दी का उच्चारण करे, यह शायद स्वाभाविक नहीं है।

उपर्युक्त सभी बातों पर विचार कर इनका निराकरण करने की दिशा में आज की तरुण पीढ़ी को प्रयत्नशील होना है। उसके ऐसा करने पर ही नाट्य परम्पराएं सुरक्षित रह सकेंगी।

अध्याय ६

नाटक साहित्य का विकास

भारतेन्दु युग :—भारतेन्दु का नाटक रचना काल सन् १८३७-८५ है। इस समय भारत का पूर्वीय भाग अंग्रेजी प्रभाव में आ चुका था। देश में ऐसी कई घटनाएँ घट चुकी थीं जिनका प्रभाव राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक विचारों पर स्पष्ट रूप से पड़ा। फलतः समाज का प्रतिबिम्ब—साहित्य भी उनके प्रभाव से वंचित नहीं रह सका।

भारतेन्दु ने बंगला साहित्य में समयानुकूल नवीनता का अनुभव किया। तत्कालीन समाज का अपने प्राचीन साहित्य से एक प्रकार का सम्बन्ध टूट सा रहा था। भारतेन्दु के समकालीन बंगला के प्रसिद्ध नाटककार रामनारायण माईकेल मधुसूदन दत्त और दीनबन्धु जी अंग्रेजी के आधार को लेकर नवीन ढंग के नाटकों की रचना कर रहे थे। बड़े ध्यान से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन सबका मनन एवं प्रचलित वादों का प्रचुर अध्ययन किया तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच अपना निज मार्ग भी प्रशस्त किया। उनके योगदान को हिन्दी पाठक जगत कभी भी भुठला नहीं सकता।

भारतेन्दु के नाटकों का विभाजन : भारतेन्दु के नाटकों की तीन धाराएँ हैं

१. अनुवादित।

२. रूपान्तरित

३. मौलिक।

अनुवादित नाट्य रचनाएं :

१. **रत्नावली नाटिका**—यह थानेश्वर के प्रसिद्ध राजा और कवि श्री हर्षदे के संस्कृत नाटक का हिन्दी अनुवाद है।

२. **पाखण्ड विडम्बना**—यह 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' नाटक के तीसरे अंक का सुन्द भाषानुवाद है।

३. **धनंजय विजय**—यह कानन कविकृत संस्कृत के एकांकी नाटक का भाष नुवाद है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें एक ही छन्द में पद्यानुवाद हुआ है।

४. **कर्पूर मंजरी**—यह प्राकृत भाषा के नाटक का हिन्दी अनुवाद है।

५ मुद्राराक्षस—(१८७८) यह विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद है।

२ दुर्लभ बन्धु—यह शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटक का अनुवाद है।

भारतेन्दु उच्चकोटि के अनुवादक थे। उन्होंने मौलिकता को स्थिर और सुरक्षित रख कर उसमें सौन्दर्य की वृद्धि की है और आवश्यकतानुसार अन्य कवियों की कविताओं को भी अपने अनुवाद में स्थान दिया है।

जनता की रुचि के परिष्कार तथा उसकी इच्छा पूर्ति के लिए आपने अपनी रचनाओं में परिवर्तन भी कहीं-कहीं अवश्य किया है। भारतेन्दु के रूपान्तरित नाटक तीन हैं :

१. विद्यासुन्दर—(१८६८) यह बंगला नाटक के आधार को लेकर लिखा गया है। इसमें साधारण कलात्मकता है। उस समय यह पसन्द किया गया।

२. सत्य हरिश्चन्द्र—यह भारतेन्दु की सर्वप्रसिद्ध रचना है। इसे बाबू श्यामसुन्दर ने मौलिक माना है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्षेमेश्वर के 'चन्ड कौशिक' का छायानुवाद कहा है।

कथावस्तु चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य आदि की दृष्टि से यह निश्चित है कि इसमें मौलिकता अधिक है। भारतेन्दु ने अपनी छाप निश्चय रूप से इस पर छोड़ी है।

मौलिक नाट्य रचनाएँ :

१. प्रेम जोगिनी—यह चार अंक की अपूर्ण नाटिका है। इसमें प्रसिद्ध तीर्थ काशी के धूर्त धार्मिक कहलाने वाले व्यक्तियों के कारनामे हैं जिनसे समाज भी दूषित है।

२. चन्द्रवली : यह भी अपूर्ण नाटिका है। इसमें चार अंक हैं।

३. भारत जननी : यह नाटक नहीं ओपेरा है। इसमें एक दृश्य में आदि और अन्त जुड़े हुए हैं।

४. भारत दुर्दशा : यह सात अंक का नाटक है। इसमें भारत के उद्धार की प्रेरणा है। इसमें भारतेन्दु की निर्भीकता, स्वतंत्रता और भाषा प्रयोग की निपुणता आदि का परिचय मिलता है।

५. नीलदेवी : यह एक वियोगान्त ऐतिहासिक गीति रूपक है। इसमें भारतीय ललनाओं को वीर बनाने का प्रयत्न किया गया है।

६. सती प्रथा : इसकी पूर्ति भारतेदु के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास ने की है। प्रारंभ भारतेन्दु ने स्वयं किया था।

भारतेन्दु ने तीन प्रहसन लिखे हैं :

१. वैदिक हिंसा-हिंसा न भवति : इसमें रसास्वादन के लिए धार्मिकता की दुहाई देकर हिंसा को हिंसा न मानने वालों पर खूब व्यंग किया गया है।

२. विषस्य विषमौषधम् : यह रूपक का भेद मात्र है। इसमें बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ के गद्दी से उतारे जाने की घटना की कथा, को आधार बनाया गया है।

३. अंधेर नगरी : (१८८१) यह छः दृश्यों का प्रहसन है। इसमें ऐसे राजा का चरित्र-चित्रण है जिसके राज्य में कोई व्यवस्था नहीं है।

भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य की सेवा करने के लिए मण्डल तैयार किया और उस पर भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं नाटक साहित्य का प्रभाव अंकित हो गया।

भारतेन्दु द्वारा प्रचलित रचनाओं की चार धाराएँ हैं। उन्हीं की भांति उनके सहयोगियों ने भी अनेक धाराओं को विकसित किया : १. मौलिक (२) अनुवाद (३) प्रहसन (४) रूपान्तरित।

मौलिक : इसमें निम्नलिखित धाराएं हैं :

१. पौराणिक धारा।
२. ऐतिहासिक धारा।
३. राष्ट्रीय धारा।
४. समस्या प्रधान धारा।
५. प्रेम प्रधान धारा।
६. प्रहसन धारा।

पौराणिक धारा के प्रमुख नाटककार और उनकी रचनाएँ :

शीतलप्रसाद त्रिपाठी—रामचरितावली। देवकीनन्दन—सीता हरण और रामलीला। रामगोपाल—रामाभिषेक। बलदेव जी—रामलीला विजय। दामोदर—रामलीला सात काण्ड। शिवशंकरलाल—रामायण दर्पण। जयगोविन्द—रामचरित। बद्रीदीन दीक्षित—सीता हरण और सीता स्वयंवर। ज्वाला प्रसाद मिश्र—सीता वनवास। प्रेमघन—प्रयाग, रामागमन।

कृष्ण चरित की प्रमुख रचनाएँ :

१—शिवनन्दन सहाय—कृष्ण सुदामा। देवकी नन्दन त्रिपाठी—रुक्मणी हरण कंस वध और नन्दोत्सव। विद्याधर त्रिपाठी—उद्धवशोट। अयोध्यासिंह उपाध्याय—प्रद्युम्न विजय। राधाचरण गोस्वामी—श्री दामा।

कुछ नाटक ऐसे भी हैं जो पौराणिक अथवा महाभारत आदि ग्रन्थों से महापुरुषों को लेकर लिखे गये हैं।

श्यामसुन्दर लाल दीक्षित—महाराज भर्तृहरि नाटक। देवकी नन्दन त्रिपाठी—

लक्ष्मी सरस्वती मिलन। बालकृष्ट भट्ट—दमयन्ती स्वयंवर। शालिग्राम—मोरध्वज। अम्बाप्रसाद—वीर कलंक। कैलाशनाथ वाजपेयी—विश्वामित्र।

ऐतिहासिक धारा :

नील देवी नाटक लिख कर भारतेन्दु ने ऐतिहासिक रचना का भी सूत्रपात किया है। इस धारा की प्रमुख रचनाए हैं : राधाकृष्ण दास—पद्मावती और राणा प्रताप। श्री निवासदास—संयोगिता स्वयंवर। राधाचरण गोस्वामी—अमरसिंह राठौर। सैय्यद शेर अली—कत्ले हकीकतराय।

देश प्रेम धारा :

भारतेन्दु ने भारत दुर्दशा के द्वारा देश प्रेम की भावना और राष्ट्रीयता को रंगमंच प्रदान किया है। इसके ये नाटक हैं : अम्बिकादत्त व्यास—भारत सौभाग्य। गोपालराम गहमरी—देश दशा नाटक। देवकीनन्दन त्रिपाठी—भारत हरण। प्रताप नारायण मिश्र—भारत दुर्दशा।

समस्या प्रधान धारा :

भारतेन्दु की 'प्रेम जोगिनी' से समस्या प्रधान नाटकीय धारा का जन्म हुआ है। इसकी प्रमुख रचनाएं ये हैं : पं० रुद्रदत्त शर्मा—अबला विलाप, पाखण्ड मूर्ति। कामता प्रसाद—कण्या सम्बोधनी। प्रताप नारायण मिश्र—गो-बध। किशोरीलाल—प्रणयिनी प्रणय।

प्रेमप्रधान धारा :

भारतेन्दु का विद्यासुन्दर प्रेम-प्रधान नाटक है। इस धारा में प्रमुख नाटक हैं : श्री निवास – रणधीर प्रेम मोहनी। जोगेश्वर दयाल—मदन मंजरी। महादेव प्रसाद—चन्द्र प्रभा।

प्रहसन धारा :

भारतेन्दु की यह मौलिक धारा उनकी विशेष संपत्ति है। नाट्य शास्त्रों में नाटक के रस की व्याख्या करते हुए हास्य रस को भी स्थान दिया गया है।

इसके द्वारा मनोवेगों पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है। इसकी मुख्य रचनाएँ ये हैं :

देवकी नन्दन—रक्षा बन्धन, स्त्री चरित्र। बालकृष्ण भट्ट—शिक्षा दान। किशोरी लाल—चौपट चपेट। गोपाल दास गहमरी—दादा और मैं।

अनुवादित नाटक :

इस काल में संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रधान रूप से हुआ है।

बंगला नाटकों का अनुवाद सर्वप्रथम 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्रिका में पद्मावती और शर्मिला नाम से प्रकाशित हुआ ।

कुछ अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव इस काल में हुआ। विशेष कर शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद किये गये हैं।

इस प्रकार के नाटकों में प्रत्येक प्रकार के पात्र मिलते हैं । पुरुष पात्रों की अधिकता है । राजा, प्रजा, मंत्री, नेता, मूर्ख, सभ्य, असभ्य सभी प्रकार के मानव चरित्र अंकित किये गए हैं।

स्त्री पात्रों में वैयक्तिक स्वतंत्रता का अच्छा स्थान है । सदियों की पराधीन नारी अपने परतंत्रता के भाव से विद्रोह करने में प्रयत्नशील नहीं है । इनमें रूढ़िवाद का खण्डन करके सामाजिक और जातीय जागरण को प्रधानता दी गयी है।

भारतेन्दु युग के नाटकों में वार्तालाप और भावों तथा विचारों को प्रकट करने की सभी शैलियों का समावेश मिलता है । पात्रों के अनुकूल भाषा के प्रयोग से उनमें स्वाभाविकता और मार्मिकता आ गयी है । समय, पात्र तथा स्थान के अनुकूल ही भाषा का सफल प्रयोग हुआ है। यह युग निस्संदेह हिन्दी नाटकों का महत्वपूर्ण युग है; क्योंकि यहीं से उनका विकास प्रारम्भ हुआ।

भारतेन्दु युग के नाटकों में गीतों का अभाव पाया जाता है। कुछ गीत हैं तो सही, किन्तु उतनी मात्रा में नहीं जिस प्रकार आधुनिक युग के नाटकों में पाये जाते हैं।

अध्याय ७

नवीन काल

परिस्थितियाँ

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने के बाद, ब्रिटिश सरकार ने वचन दिया था कि शासन व्यवस्था में भारतीयों को अधिकार मिलेगा; लेकिन १९१९ में अधिकार के बदले भारतीयों पर 'रोल्ट एक्ट' जैसा काला कानून लाद दिया गया। इससे लोगों में असन्तोष की भावना फैल गयी थी। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड ने जनता के क्रोध को और भी उद्दीप्त कर दिया। उस समय कवियों ने 'वतन' और 'जख्मी पंजाब' जैसे नाटक लिखे। देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति की बागडोर गांधी जी ने अपने हाथ में ले ली और जनता को सत्य व अहिंसा के सैनिक बनने का संदेश दिया।

सामाजिक, वैज्ञानिक आविष्कारों ने शोषित वर्ग उपस्थित कर दिया। शोषक और शोषित में अन्तर्युद्ध छिड़ गया। इसी संघर्ष को लेकर प्रगतिशील साहित्य का जन्म हुआ और सामाजिक जीवन में नवचेतना जागी जो धीरे-धीरे साहित्य में भी प्रकट होने लगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग और नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी साहित्य के प्रकाशन के द्वारा साहित्य वृद्धि की ओर विद्वानों को प्रोत्साहित किया। प्रसाद जी का आगमन हुआ और हिन्दी नाटक साहित्य का नवीन काल आरम्भ हुआ। इस समय प्रसाद का व्यक्तित्व सर्वोपरि था।

जयशंकरप्रसाद

नाटक शैली का विकास—आरम्भ में प्रसादजी कवि के रूप में साहित्य में आए। उनमें कल्पना, अनुभूति और काव्यत्व की प्रधानता थी। भाषा, भाव, विचार, अन्वेषण, दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन आदि से सुसज्जित होकर नाटक क्षेत्र में अवतीर्ण हो वे नवीन युग के प्रवर्तक बने।

प्रसाद ने आरंभ में चार एकांकी लिखे—१. सज्जन [१९१०-११], २. कल्याणी-परिणय [१९१२], ३. करुणालय [१९१२] और [प्रायश्चित] १९१४। इनमें ब्रजभाषा खड़ी बोली और अतुकान्त काव्य का प्रयोग हुआ है। इन एकांकी नाटकों में ऐतिहासिक प्रवृत्ति अन्वेषणात्मक भावना का परिचय मिलता है।

बाद में उन्होंने नाट्य साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों की माला सी पिरो दी विशाख, अजातशत्रु, [१९३२] और जन्मेजय का नाग यज्ञ [१९३६] नामक तीन नाटकों में प्रतिहिंसा और करुणा, सहानुभूति का रूप धारण कर लेती है।

जनमेजय कलियुग के आरंभ की कथा है। स्कन्द गुप्त और चन्द्रगुप्त में आदर्श और यथार्थता को जोड़ा गया है।

चन्द्रगुप्त में भारतीय सभ्यता को उत्तम सिद्ध किया गया है। ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि हुई है। मालविका, देव सेना, विजया आदि काल्पनिक पात्र हैं।

नवीन विषय को लेकर 'एक घूंट' और 'कामना' नामक नाटक लिखे गये हैं। एक घूंट में यथार्थ और आदर्श में सामंजस्य स्थापना की आवश्यकता पर भी दृष्टि-पात हुआ है।

'ध्रुव स्वामिनी' में नारी समस्या पर नया प्रकाश डाल कर यह प्रकट किया गया है कि उसे भी मोक्ष-प्राप्ति का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुष को।

प्रसाद जी ने भारत के समुज्ज्वल इतिहास को नाटक का विषय बनाया है। उसकी गरिमा के गौरवमय गीत उन्होंने इतनी तन्मयता से इन नाटकों में बिखेरे हैं कि वे अमर हो गए।

समकालीन नाटक-साहित्य

प्रसाद के समकालीन नाटक—साहित्य की रचनाएँ निम्नलिखित धाराओं में हैं :

१. मौलिक, २. प्रहसन, ३. अनुवादित।

मौलिक रचनाओं की निम्नलिखित धाराएं हैं—

१. पौराणिक धारा, २. ऐतिहासिक धारा, ३. राष्ट्रीय धारा, ४. समस्या प्रधान धारा, ५. प्रेम प्रधान नाटक।

१. पौराणिक धारा—इसकी तीन उपधाराएं है—[क] रामचरित धारा, [ख] कृष्ण धारा, [ग] पौराणिक धारा।

(क) रामचरित धारा—इसमें दो उल्लेखनीय नाटक हैं। दुर्गादत्त लिखित 'राम नाटक' और कुन्दनलाल शाह का 'रामलीला नाटक'।

ये नाटक व्यापार की दृष्टि से लिखे गये हैं।

(ख) कृष्ण धारा—इस धारा में वियोगीहरि लिखित छद्म योगिनी नाटक सर्वोत्तम है।

अन्य प्रमुख नाटक हैं :—

मैथिलीशरण गुप्त—तिलोमा, चन्द्रहास और अनक । वद्रीनाथ भट्ट वेन-चरित । सुर्दशन—अंजना । गोविन्द वल्लभ पन्त—वरमाला ।

(२) ऐतिहासिक धारा—इसमें निम्नलिखित नाटक लेखकों की रचनाएं प्रसिद्ध हैं—सुर्दशन—दयानन्द । वेचन शर्मा 'उग्र'—महात्मा ईसा । प्रेमचन्द—कर्वला वद्रीनाथ भट्ट—दुर्गावती । जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'—प्रताप प्रतिज्ञा । वियोगी हरि—प्रवुद्ध-योमुन । उदयशंकर भट्ट—चन्द्रगुप्त मौर्य और विक्रमादित्य । सेठ गोविन्ददास—हर्ष ।

इन नाटकों में महात्मा ईसा सवसे अच्छा नाटक है । जगन्नाथ प्रसाद का 'प्रताप प्रतिज्ञा' नाटक भी स्वदेश प्रेम की भावना से ओतप्रोत है ।

लेखक ने अपनी कल्पना के वल से वीरता, उल्लास, उत्साह और त्याग के अपूर्व चित्र नाटक में अंकित किये हैं ।

(३) राष्ट्रीय धारा :—इस धारा में निम्नलिखित नाटक उल्लेखनीय हैं :—

काशी नाथ वर्मा—समय । प्रेमचन्द—संग्राम । लक्ष्मण सिंह—गुलावी आग । इनमें प्रेमचन्द का संग्राम प्रतिनिधि नाटक है । इसमें कांग्रेस के आदर्श की छाया विद्यमान है ।

समस्या प्रधान धारा—इसकी शैली की निम्नलिखित रचनाएँ हैं—श्रीवास्तव, अछूत । लक्ष्मीनारायण—सन्यासी, मुक्ति का रहस्य । प्रेमचन्द—प्रेम की देवी ।

लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक इस धारा के प्रमुख नाटक हैं; किन्तु मिश्र जी ने तत्कालीन समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया है । इन्होंने तर्क और मुक्ति को अपना शस्त्र वनाया है । मिश्र जी के 'सन्यासी' में दो समस्याएं प्रधान हैं । एक है नारी की समस्या और दूसरी है जाति-रक्षा ।

इसी प्रकार 'राक्षस का मंदिर' और 'मुक्ति का रहस्य' नाटकों में भी नारी समस्या के विषय अपनाये गये हैं ।

(५) प्रेम प्रधान नाटक धारा—इस धारा में दुर्गादत्त का 'चन्द्राननी' वड़ानन्दन शाह का 'उपांगिनी' और धनीराम का 'प्राणेश्वरी' प्रसिद्ध नाटक है । इनमें कुछ विशेषता नहीं ।

प्रहसन :—स्वतंत्र रूप से लिखे गये प्रहसन निम्नलिखित हैं—जी० पी० श्रीवास्तव, कृत 'उलट फेर' और 'भूल चूक' । गोविन्द वल्लभ पन्त का 'कन्जूस की खोपड़ी' और सुर्दशन कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' ।

सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' प्रहसन उत्तम है।

अनुवाद—

संस्कृत के अनुवादों में भवभूति के 'मालती माधव' का अनुवाद सत्यनारायण ने किया है। हर्ष के नागानन्द का भी सुन्दर अनुवाद हुआ है।

सीताराम ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद हिन्दी में किया है। टालस्टाय के तीन नाटकों का अनुवाद हुआ। इनके नाम है : किलवार की करतूत, अंधेरे में उजाला, जिन्दा लाश प्रकाशित हुए।

बंगला—इन नाटकों का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ। सबसे अधिक अनुवाद द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का है। उनका कथानक सुन्दर भी है।

विशेषताएं :—इस युग में प्रसाद सर्वोपरि हैं। इस युग के नाटकों में देश-प्रेम, हिन्दू-मुसलिम एकता और नारी की स्वतंत्रता आदि विषयों की प्रधानता है।

इस युग में रोमान्स भी काफी पाया जाता है। प्राचीनता को छोड़ कर न्यूनता के लिए उससे प्रेरणाएं मिली हैं। भाषा शैली व कला की दृष्टि से यह हिन्दी नाट्य-साहित्य का स्वर्ण युग है। इस युग के नाटकों में जो दोष बताया जाता है वह है उनमें अभिनेयता की कमी।

प्रसाद के बाद के नाटक

ज्यों-ज्यों मनुष्य के जीवन का विकास होने लगा, त्यों-त्यों उसकी अन्तर्गत समस्याओं का जन्म भी होने लगा। हिन्दी नाटककार इब्सन व बर्नार्डशा की नाट्य कला पर सरलता से रीझ गये। उनके ये नाटक समस्या प्रधान थे। समस्या प्रधान नाटकों की भी अपनी कुछ विशेषता है। जिनका विवेचन नीचे किया गया है।

१. ये समाज के नंगे और यथावत चित्र के प्रदर्शक हैं।

२. अधिकांशत : नाटकों की मूल समस्या सेक्स (यौन) संबंधी है।

३. इनकी शैली मनोवैज्ञानिक है।

४. इनकी टैकनिक पाश्चात्य पद्धति से प्रभावित है। कथा के विभाजन में नियंत्रण का अभाव है; क्योंकि समस्या का उठाना ही इनका लक्ष्य है, उसका समाधान करना नहीं।

५. इनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा की गयी है। समाज को उतना महत्व नहीं मिला।

प्रसादोत्तर रचनाएं :—मौलिक नाटक रचनाएं ही इस युग में अधिक मिलती हैं। धारावार नीचे उनका वर्णन है।

पौराणिक धारा :—इस धारा में सेठ गोविन्ददास का 'कर्त्तव्य' और चतुर सेन शास्त्री का 'सीताराम' नाटक प्रसिद्ध है। उदयशंकर भट्ट का 'राधा' और किशोरी दास वाजपेयी का 'सुदामा' नाटक भी अच्छा है। उदयशंकर भट्ट का 'अम्बा', 'सागर-विजय', चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' तथा पाण्डेय वेचन शर्मा उग्र का 'गंगा का वेग' भी श्रेष्ट नाटक है।

ऐतिहासिक धारा—उदय शंकर भट्ट का दाहर, हरिकृष्ण प्रेमी का रक्षा वन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध। गोविन्ददास का कुलीनता, भटनागर का कुणाल, जगदीश चन्द्र माथुर का कोणार्क आदि इस धारा की प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

इस धारा के प्रमुख नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी हैं। स्वप्न भंग उनका सर्व श्रेष्ठ नाटक है। उनके नाटक और भी कई हैं जो वहुत लोकप्रिय एवं पठनीय हैं।

प्रेम प्रधान धारा—इस धारा के अन्तर्गत कमल कांत वर्मा का 'प्रवासी' और सुमित्रानन्दन पन्त का ज्योत्सना आते हैं।

राष्ट्रीय धारा—इस धारा में निम्नलिखित रचनाएं हैं : लक्ष्मी नारायण मिश्र—राजयोग, सिन्दूर की होली, आधी रात। वेचन शर्मा उग्र—चुम्वन, डिक्टेटर। गोविन्द वल्लभ पन्त—अंगूर की वेटी। सेठ गोविन्ददास—विकास और सेवा पथ। उपेन्द्रनाथ अश्क—स्वर्ग की झलक। हरिकृष्ण प्रेमी—छाया और वन्धन।

समस्या प्रधान नाटकीय रचनाओं में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक प्रमुख स्थान रखते हैं। उनके अन्दर भाषा का लालित्य, भावों की गहनता तथा रंगमंचीयता—सभी कुछ है। गोविन्ददास गाँधीवादी हैं। उनके सेवापथ में राजनीतिक, संग्राम और असहयोग आन्दोलन आदि का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। भाषा में ओज है। अश्क के नाटकों में नवशिक्षित नारी की झांकी है।

पंतजी का नाटक—अंगूर की वेटी, सिनेमा के लिए लिखा गया है। अन्य अनेक लेखकों के भी अनेक नाटक हैं; किन्तु उनमें से कोई भी अधिक उल्लेखनीय नहीं है। जगदीश चन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, माहन राकेश आदि प्रमुख नये नाटक लेखक हैं।

एकांकी—

एकांकी आधुनिक नाटक की वहुत लोकप्रिय विधा है। इसके उद्गम के

विषय में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग इसका उदय संस्कृत नाटकों से मानते हैं और कुछ लोग अंग्रेजी एकांकी से।

संस्कृत के एकांकी—इनमें से एक अंक वाले यह हैं—भाण, व्यायोग, अंक वीथी तथा नाट्य रासक। इसका उदाहरण हिन्दी में भारतेन्दु का विषस्य विषमौषधम है। व्यायोग में कथावस्तु और परिहास सुन्दर प्रतीत होता है। यह नाट्य-शास्त्र से मिलता जुलता है। कमल कांत वर्मा के 'सूर्योदय' में इसकी झलक है।

अंग्रेजी एकांकी नाटकों के चार तत्व हैं—
१—विषय की एकता, २—प्रभाव की क्षमता, ३—वातावरण की एकता,
४—प्रधानता एक पात्र या वर्ग की होती है।

दिवा और शिल्प—इसके पांच अंग हैं। (१) उद्‌घाटन, (२) स्थिरता, (३) विकास, (४) चरम उत्कर्ष और (५) अन्त।

हिन्दी एकांकी नाटकों का उदय संस्कृत के आधार पर हुआ। हिन्दी एकांकी नाटकों को चार भागों में बांटा गया है :—

१. भारतेन्दु युग—इस समय के प्रधान लेखक भारतेन्दु, किशोरीलाल भट्ट, काशी नाथ आदि हैं। बाल विवाह आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। कला की दृष्टि से इस युग के नाटक कोई महत्व नही रखते।

२. प्रसाद युग—दूसरा युग प्रसादजी के 'एक घूंट' से आरम्भ होता है। प्रसादजी का एकांकी अपने वर्ग का एक ही उदाहरण होकर रह गया है। वह अन्य लेखकों को बढ़ावा न दे सका।

नया एकांकी युग—भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवां' से नया एकांकी युग आरम्भ हुआ है। 'शैतान' में कृत्रिम वैवाहिक सम्बन्ध की पोल खोली गयी है।

रामकुमार वर्मा के काल में नाट्य विधान के 'एकांकी' का नया सुगठित रूप है। इस युग के प्रमुख एकांकी लेखक, रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास और उपेन्द्रनाथ अश्क आदि हैं।

१९४५ के बाद हिन्दी एकांकी का पूर्णतः नया रूप आरम्भ हुआ। आजकल मनोवैज्ञानिक, एकांकी ध्वनि नाटक, छाया नाटक, भाव नाटक, मोनो ड्रामा आदि लिखे जा रहे हैं। आज एकांकी गांव की नाटक मंडलियों तक पहुंच गया है।

आज के श्रेष्ठ एकांकीकार के रूप में श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, सुमित्रानन्दन पन्त, डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। उपेन्द्रनाथ

अश्क, गणेश प्रसाद द्विवेदी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, विष्णु प्रभाकर, सत्येन्द्र शरत, देवराज दिनेश, एवम् चिरंजीत भी इस क्षेत्र में अपना सहयोग दे रहे हैं तथा यशस्वी हुए हैं।

लोकप्रियता—एकांकी आज नाटक की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। इसके कई कारण हैं जिनमें प्रमुख कारण निम्नलिखित है :—

इस युग में जीवन एक मशीन के समान है। लोगों के पास इतना समय नहीं कि वे घण्टों बैठकर नाटक देख कर मनोरंजन प्राप्त कर सकें। हर आदमी चाहता है कि कम से कम समय में अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करे। इस भावना की पूर्ति एकांकी नाटक करते हैं। एकांकी नाटकों को रेडियो आदि वैज्ञानिक आविष्कारों से भी पर्याप्त सफलता मिलती है। नाटकों का पुराना रंगमंच भी समाप्त हो चुका है। अतः उनकी लोकप्रियता दिन प्रतिदिन घटती ही जा रही है। नाटकों का अभिनय तो आजकल कहीं ही देखने को मिलता है।

विशेषताएं

एकांको की निम्न विशेपताएँ हैं—

१—एकांकी में एक ही घटना प्रधान होती है।

२—इसमें पात्र भी चार-पांच से अधिक नहीं होते।

३—पात्रों की व्यर्थ कल्पना उसमें नहीं होती है।

४—घटनाओं का अनावश्यक विस्तार नहीं होता।

५—कथानक सम्बन्धित विषय पर पूर्ण बल देने में सक्षम होता है। तथा

६—मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल लक्ष्य की प्राप्यि त्वरित गति से करता है।

नाटक और एकांकी में अंतर

कुछ लोग नाटक और एकांकी—दोनों में अभिनय तत्वों की समानता के कारण एकांकी को नाटक का लघु संस्करण ही मानने लगे हैं। यह उचित नहीं है। जिस प्रकार कहानी और उपन्यास एक चीज नहीं हैं। उसी प्रकार नाटक और एकांकी भी दो अलग-अलग चीजें हैं। दोनों में अंतर है। यदि ऐसा न होता तो एकांकी को बढ़ाकर नाटक का रूप क्यों नहीं दिया जा सकता और नाटक के किसी एक अंक को एकांकी क्यों नही कहा जा सकता। नाटक अवकाश के क्षणों की उत्पत्ति है, जबकि एकांकी व्यस्त जीवन की। नाटक में अनेक दृश्य परिवर्तन होते हैं जबकि एकांकी में ऐसा नहीं होता। नाटक की कथावस्तु में मन्थरता है एवं विकास है जबकि एकांकी में त्वरित

गति एवं संकुचन प्रमुख है। नाटक में पात्रों की संख्या बहुत होती है। एकांकी में बहुत सीमित। नाटककार के कथोपकथन लम्बे एवं बोझिल होते हैं, जबकि एकांकी-कार के छोटे और सशक्त। स्वगत कथनों की नाटक में भरमार रहती है; किन्तु एकांकी में वे बहुत कम होते हैं। नाटक में अनेक कथाएँ आ जुड़ती है, जबकि एकांकी में ऐसा नहीं होता।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाटक एवं एकांकी में कुछ मौलिक अंतर है। संकलन-त्रय के गुण के कारण एकांकी आजकल अत्यधिक लोकप्रिय हो रहा है जबकि नाटक इतना नहीं। अतः उन दोनों को दो पृथक विधाएँ मानना ही उचित है।

शैली की दृष्टि से एकांकी नाटकों का वर्गीकरण

शैली के आधार पर एकांकी नाटकों के दो प्रमुख भेद किये जा सकते हैं—सुखान्त एवं दुखान्त।

जैसा कि हम जानते हैं भारतीय संस्कृति एवं नाट्यकला के अनुसार पुराने युग में दुखांत नाटक नही लिखे जाते थे; किन्तु आजकल दोनों ही प्रकार के नाटक लिखे जाते हैं। एकांकी में भी ऐसा ही होता है। यह भी कहा जा सकता है कि आजकल दुखांत एकांकी ही जनता कुछ अधिक पसंद करती है। पाश्चात्य नाटकों में ऐसे एकांकियों का बाहुल्य है, जो दुखांत हैं। उनकी कथा मर्मस्पर्शी एवं मनोवैज्ञानिक आधार लिए होती है। दर्शकों के हृदय में करुणा का संचार कर वे उनकी सहानुभूति प्राप्त करते हैं। इसी दृष्टिकोण का प्रभाव हिन्दी एकांकी पर भी पड़ा है। परिणामतः हिन्दी में भी दुखांत एकांकियों का सृजन होने लगा।

शैली के अनुसार एकांकियों के अन्य भेद निम्नलिखित हैं:

आपेरा : बिल्कुल खुले रंगमंच पर इसका अभिनय होता है।

मोनोड्रामा : इसमें एक ही पात्र होता है वही, क्या-क्या कहा ! आदि वाक्य कहकर सम्पूर्ण पात्रों का अभिनय करता है। इससे अभिनय के लिए रंगमंच की आवश्यकता नहीं है। सेठ गोविन्ददास का 'चतुष्पद' इस विषय में उत्तम एकांकी है।

फैन्टेसी। इसमें सब कुछ काल्पनिक होता है। मनुष्य के विकास के लिए कुछ निश्चित आधार लेकर लेखक अपनी कल्पनावीथियों में इसकी रचना करता है। स्वप्न को सत्य का रूप प्रदान करना उनके प्रयत्नों का प्रतीक ही 'फैंटेसी' है।

झांकी : यह एकांकी का भी लघु रूप है। केवल एक दृश्य द्वारा जीवन के किन्हीं महत्वपूर्ण क्षणों का एक संक्षिप्त सा चित्र प्रस्तु करना ही इसका उद्देश्य है।

गीति नाट्य : इसमें पाठ्य तत्व अधिक होते हैं एवं अभिनय कम। नाटककार के मन में जो काव्यात्मकता छायी रहती है, उसे व्यक्त करने का इससे सुन्दर उपाय और कोई नहीं। दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता इसमें नहीं होती। 'मत्स्य गंधा' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

रेडियो एकांकी : यह रंगमंचीय एकांकी के समान ही होता है। इसमें और रंगमंचीय एकांकी में अन्तर यही है कि इसका प्रसारण रेडियो द्वारा होता है। अतः दृश्यविधान की इसमें आवश्यकता नही। यह श्रव्य है।

फीचर : वर्णनात्मक शैली का यह एकांकी संवादों से रहित होता है तथा रेडियो द्वारा इसका प्रसारण किया जाता है।

व्यंग्य एकांकी : इसमें व्यंग्य प्रधान होता है। एकांकीकार किसी भी समस्या पर विचार करने के साथ ही समाज आदि पर तीखे व्यंग्य करता है। इसकी विशेपता यह है कि इसमें अभिधर्म एवं लक्षणार्थ भिन्न होते हैं। कटाक्षों एवं वाक्वैचित्र्य की प्रधाननता इसमें होती है। श्री भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक' इसका सुन्दर उदाहरण है।

भावात्मक एकांकी : ऐसे एकांकी वे हैं जिनमें पद्यवद्ध भाषा में एकांकीकार अपने भाव प्रस्तुत करता है। इसके पात्र देवगुणों से सम्पन्न होते हैं। उनमें आदर्श और मर्यादा विद्यमान रहती है तथा उनके चरित्र विमल भावों के समान ही निष्कलुष होते हैं। "विश्वामित्र" एक ऐसा ही एकांकी है। उदयशंकर भट्ट इस प्रकार के एकांकी लिखने में सफल रहे हैं।

प्रतीकात्मक एकांकी : प्रतीकों के माध्यम से अमूर्त को मूर्त रूप देने के लिए ऐसे एकांकी का सृजन होता है। नाटककार जो चाहता है, सोचता है, उसे किन्हीं भी प्रतीकों की कल्पना कर इसमें व्यक्त करता है। प्रसाद का "एक घूंट" इस प्रकार का ही एक एकांकी है।

समस्या प्रधान एकांकी : आज समाज के सम्मुख अनेक समस्याएं हैं। उन्हें देखने सुनने से ही काम नहीं चल सकता। नाटककार उन्हें देख सुनकर लेखनी वद्ध करता है। उनका दिग्दर्शन कराकर हल प्रस्तुत करता है। समस्या, राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक, अथवा मानसिक कैसी भी हो सकती है।

चारित्रिक एकांकी : यह घटना प्रधान नहीं होता। किसी पात्र के चरित्र का दिग्दर्शन कराने के लिए उसके जीवन का कोई भी महत्वपूर्ण प्रसंग ऐसे एकांकियों

में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें संवादों में ही चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। सेठ गोविन्ददास का "अधिकार लिप्सा" इसका उदाहरण है।

घटना प्रधान एकांकी : ऐसे एकांकी में चरित्र चित्रण पर नहीं अपितु किसी घटना विशेष पर अधिक बल दिया जाता है। अनेक ऐसी घटनाएं होती हैं जिनमें क्रांति के स्वर, विद्रोह के अंकुर और निर्माण के तत्व समन्वित होते हैं। उन पर प्रकाश डालना ही इन एकांकियों का ध्येय है।

विषय की दृष्टि से वर्गीकरण

एकांकियों के जो प्रकार ऊपर दिए गये हैं, उनका सम्बन्ध शैली से है। मानव जीवन से सम्बन्धित अनेक विषयों का दिग्दर्शन भी एकांकी में कराया जाता है। अतः विषय की दृष्टि से एकांकी निम्न प्रकार के होते हैं :

सामाजिक : ऐसे एकांकी में समाजगत समस्याओं को प्रमुखता दी जाती है। सामजिक वेशभूषा, रहन-सहन और जीवन यापन के स्तर का दिग्दर्शन ही ऐसे एकांकी में होता है। सामाजिक समस्याएं भी उसमें हो सकती हैं तथा समाज के वस्तुसत्य भी। इसके लिए आवश्यक है कि नाटककार को समाज की पर्याप्त जानकारी हो।

धार्मिक : धर्म के नाम पर आज भी वाद-विवाद और झगड़ा होता है। इस सबके विषय में नाटककार का भी अपना मत होता है। धर्म का वास्तविक उद्देश्य न बताकर उसके रूप एवं उनके नाम पर होने वाले विवादों का उत्तर ही नाटककार ऐसे एकांकी में देता है।

पौराणिक : भारत का इतिहास इतना प्राचीन एवं लोकप्रिय नहीं जितना कि पौराणिक साहित्य है। पौराणिक आख्यानों को आधार मानकर समय समय पर नाटककार भी कुछ एकांकियों की रचना करते रहते हैं। राम, कृष्ण, सीता, सावित्री, हरिश्चन्द्र आदि सभी व्यक्ति पौराणिक नायक हैं। अतः उस युग के चरित्रों पर आधारित एकांकी पौराणिक एकांकी कहलाते हैं।

ऐतिहासिक : इनका सृजन इतिहास की घटनाओं को मानकर होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य हमारा प्रथम ऐतिहासिक नायक है। उसके बाद तथा वर्तमान से पूर्व के चरित्रों पर आधारित सभी एकांकी ऐतिहासिक हैं। इनका उद्देश्य होता है वर्तमान के समक्ष, अतीत का उदाहरण प्रस्तुत कर उसमें उतरने की प्रेरणा देना। अनेक

ऐतिहासिक एकांकी सफल तथा लोकप्रिय होते है। अपने अतीत पर गर्व अनुभव करने एवं उससे प्रेम करने के कारण हम ऐतिहासिक एकांकी वहुत पसंद करते है।

राजनैतिक : राजनीति के क्षेत्र में भी अनेक समस्याएं हैं। आज के लोकतंत्री युग में उन सभी पर विचार करना साधारण जनता का उत्तरदायित्व भी है और लेखकों का भी। इसी उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए राजनैतिक एकांकी की रचना होती है।

मनोवैज्ञानिक : मन में जो है, उसी के द्वारा वाहर की रचनाएं मनुष्य करता है। अनेक अवसरों पर मनुष्य को वहुत कुछ सोचना पड़ता है। वह चाहता कुछ है और करना उसे कुछ पड़त जाता है। इच्छाओं के पहरे पर कर्तव्य खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अंतर्द्वन्द्व का शिकार होता है। उस अतर्द्वन्द्व का दिग्दर्शन कराकर व्यक्ति के चरित्र पर प्रकाश डालना ही मनोवैज्ञानिक एकांकीकार का कर्तव्य है। यौन समस्या आदि से पीड़ित, स्वार्थ और परमार्थ के वीच मे खड़ा और आदर्श एवं यथार्थ के थपेड़े सहता मानव ही ऐसे एकांकी का नायक होता है।

दार्शनिक : हमारे देश को 'अध्यात्म भूमि' कहा जाता है। आध्यात्मिकता की जितनी ऊँची अभिव्यक्ति इस देश में हुई, अन्यत्र कहीं नहीं। हमारा दर्शन एक विशेष गुण से संपन्न है। भौतिकता-अभौतिकता, नश्वर-अनश्वर, मनुष्य-परमेश्वर, सुख-दुख एवं हास्य-रुदन इन सभी पर एक साथ मनुष्य विचार करता है। यही दर्शन है। इस दर्शन का विवेचन जिस एकांकी में कराकर अपने पात्र का चरित्र-चित्रण एकांकीकार करे वही एकांकी दार्शनिक है।

उद्देश्य की दृष्टि से वर्गीकरण :

एकांकी का वर्गीकरण उद्देश्य की दृष्टि से भी किया जाता है। इस दृष्टि से इसके तीन भेद हैं।

(अ) पाठ्य एकांकी।
(आ) रंगमंचीय एकांकी।
(इ) श्रव्य एकांकी।

नीचे अव इन सव पर संक्षेप में कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

पाठ्य एकांकी : जो एकांकी सुन्दर काव्यात्मक भापा से समन्वित हों और पढ़ने वाले को पूर्ण आनन्द एवं रसानुभूति प्रदान करें किन्तु अभिनेय न हों, वे पाठ्य एकांकी हैं। इनके लेखक अभिनय एवं रंगमंचीय तत्वों पर विचार नहीं करते। वे

स्तर से नीचे लाने के लिए आप तत्पर भी नहीं हैं। चुटीली और व्यंग मिश्रित चुटकियाँ कहने में आप सिद्धहस्त हैं। अपने 'प्रकाश' एकांकी में सेठजी ने एक ऐसे स्वार्थी मिनिस्टर का चित्र अंकित किया है जो समाज के नाम पर अपना ही स्वार्थ सदैव सिद्ध करता है। 'सुदामा के तन्दुल' में आपने मंत्रियों की मिथ्यावादिता को ही आधार बनाया है।

'भूख हड़ताल' आपका ऐसा एकांकी है जो यथार्थ होते हुए आदर्श के निकट है एवं उसकी स्थापना की प्रेरणा देता है। 'कगाल नहीं', 'सच्चा कांग्रेसी कौन', और 'पाप का घड़ा' यथार्थवाद के बेजोड़ उदाहरण है। सेठ जी के सामाजिक एकांकी वस्तुतः सुन्दर है। उन्हें देखकर लगता है कि हम कहानी नहीं किसी सत्यकथा का प्रेक्षण कर रहे हैं।

सेठ जी ने मोनोड्रामा भी लिखे हैं। 'प्रलय की सृष्टि' 'सच्चा जीवन', तथा 'अलबेला', बहुत प्रसिद्ध हैं'।

सामाजिक के अतिरिक्त सेठ जी ने कुछ पौराणिक एकांकी भी लिखे हैं। जिनमें कृषि यज्ञ, अत्यंत विख्यात हुआ।

सेठजी के एकांकी नाटकों में अभिनेयता पर्याप्त मात्रा में है। नयी टेकनीक, शैली और नये विचार लिए सेठ गोविन्द दास के एकांकी नवयुग की अनोखी देन है। जिनसे हिन्दी नाटक साहित्य समृद्ध हुआ है। आपके प्रत्येक एकांकी के कथोपकथन अत्यंत महत्वपूर्ण एवं साहित्यिक होते हैं। मनोविज्ञान का आश्रय लेकर चरित्र-चित्रण करना आपकी कला के विकास का प्रतीक है।

सेठ गोविन्द दास आजकल संसद सदस्य हैं। ११० से अधिक एकांकी नाटकों की रचना करने के साथ ही आप की आवाज निरन्तर हिन्दी के समर्थन में संसद भगन में गूंजती रहती है।

उपेन्द्र नाथ अश्क : सफल याथार्थवादी कलाकारों में अश्क का नाम भी लिया जाता है। एकांकी क्षेत्र में न्यूनता का पूर्ण प्रतिपादन करने वाले अश्क, सामाजिक पारिवारिक, जीवन के गहन पर्यवेक्षक हैं। समस्याओं की यथार्थता पर प्रकाश डालना अपना कर्तव्य समझते हुए आप उन्हें कृत्रिमता का वाना पहनाने के विरुद्ध हैं। नग्न यथार्थ ही आप का लक्ष्य है। जो सच है, उसे छिपा कर असत्य का पोषण करने की आदत आप में नहीं है। डा० रामचरण महेन्द्र ने लिखा है—"अश्क गिरती हुई सामाजिक सामान्तशाही के भग्नावशेष हैं'।

अपने एकांकियों में जीर्ण-शीर्ण सामाजिक परम्पराओं, उनके पोषकों एवं उनमें पिस रहे असहाय मनुष्यों का आपने सफल चित्रण किया है। समाज में जो

दोष आ गए हैं (या पूर्वतः विद्यमान हैं) उन पर व्यंगात्मक शैली में आप निरन्तर कटाक्ष करते रहते हैं। पाठकों को प्रचलित गलत परम्पराओं के विरुद्ध करना ही आप का लक्ष्य है। मध्यवर्गीय परिवारों के जीवन में जो क्रंदन, हाहाकार एवं असंतोष है, वह आपके एकांकियों का प्रतिपाद्य विषय बन गया है। लगता है कि अश्क की दृष्टि से सामाजिक पारिवारिक जीवन का कोई भी पहलू छिपा नहीं रहा। उनके यथार्थ चित्रण की कुछ आलोचक निन्दा करते हैं तथा उनके विचार में ऐसा वर्तांव सामाजिक उत्थान में बाधक ही है; किन्तु सब आलोचकों के बावजूद भी अश्क ने अभी तक अपना दृष्टिकोण नहीं बदला। वे लगातार अपने पात्रों की करुणाजनक स्थिति दिखा कर उसके प्रति संवेदना उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

सामाजिक :—अश्क के प्रसिद्ध सामाजिक एकांकी हैं— जोंक, अधिकारों की रक्षा, पहेली, विवाह के दिन, लक्ष्मी का स्वागत, तूफान से पहले, तौलिया, पक्का गाना, रुखाई की झलक और जूठे टुकड़े।

इन सभी एकांकियों में अश्क ने सामाजिक कुरीतियों पर कठोर प्रहार करके अपनी भावना की अभिव्यक्ति की हैं। धन लोलुप पिता, फैशनेबुल लड़के-लड़की, विकृत रिवाज, आदर्श प्रिय तरुण, दहेज, अशिक्षा, भुखमरी आदि सभी बातों पर व्यंगात्मक शैली में आपने प्रकाश डाला है।

चरवाहे, चिलमन, चुम्बक, मेमना, एकाकी डाली और अंधी गली आपके प्रतीकात्मक एकांकी हैं। पाश्चात्य प्रतीकों से भी सुन्दर अश्क के ये प्रतीक मन मोह लेते हैं। उद्दाम यौवन का प्रतीक चरवाहा; अन्धे समाज का प्रतीक 'अन्धी गली' आपकी अत्युत्तम रचनाएं हैं। रूढ़ियां, दूषित परम्मपराएं एवं संकुचित मनोवृत्तियां जिसमें राह रोके खड़ी हों, वह समाज अन्धी गली नहीं तो क्या है?

'आदि मार्ग' और 'भवंर' आपके मनोवैज्ञानिक एकांकी हैं। पात्रों के मन में पैठ उनकी समस्त मानसिक अनुभूतियों का विश्लेषण अश्क जी ने इस प्रकार किया है जैसे वे उनकी अपनी ही अनुभूतियां हों। मन के सम्पूर्ण रहस्यों को उद्घाटित कर उन्हें सत्य और यथार्थ के धरातल पर सफलतापूर्वक आपने उतारा है।

'पर्दा उठाओ', 'पर्दा गिराओ', 'कैसा साज कैसी काया', 'बातसिवा' और 'जीवन साथी', आपके प्रसिद्ध प्रहसन हैं। शिष्ट और निश्चिन्त हास पर आपका पूर्ण नियंत्रण है। दैनिक जीवन के चित्रों का हास्यजनक रूप ही इनमें प्रस्तुत किया गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अश्क जी के एकाँकी नूतन कलासमन्वित, नव-विचार-धारायोजित, यथार्थता पर आधारित और भाषा परिवेष्टित रूप में